किया गया और रासो आदि ग्रन्थ लिखे गये। इस पर अपभ्रंश और प्राकृत भाषाओं का गहरा प्रभाव है।

मुसलमानों के भारत में आ जाने से हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये फिर धार्मिक आन्दोलन हुआ, और भक्ति भावना का जनता में प्रचार-प्रसार किया गया। इसके लिये दो प्रान्तों की बोलियों को साहित्योचित रूप से विकसित किया गया। वल्लभ सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्ति-काव्य के लिये तो ब्रजप्रान्त की ब्रजभाषा का शौरसेनी प्राकृत से और रामानंदीय सम्प्रदाय के राम भक्ति-काव्य के लिये अवध प्रान्त की अवधी भाषा का अर्ध-मागधी से उद्भव हुआ। इनके साथ ही मुसलमानों ने मेरठ, बुलंदशहर आदि प्रान्तों की बोली को जिसे खड़ी बोली कहा जाता है, अपनी व्यावहारिक बोली के रूप में अपनाकर फारसी से प्रभावित करते हुए साहित्यिक रूप देकर उर्दू के नाम से ला उपस्थित किया।

इस प्रकार तीन भाषायें तैयार हो गईं। यद्यपि अन्य प्रान्तों में भिन्न-भिन्न बोलियाँ बराबर चलती रहीं, जैसे बुन्देलखण्ड में बुन्देली। इन प्रान्तीय बोलियों से उक्त ब्रजभाषा और अवधी प्रभावित भी हुईं। लगभग १६०० ई० से १६०० तक यही भाषा सारे उत्तर-भारत की एकमात्र सर्वमान्य साहित्यिक या काव्य भाषा होकर प्रचलित रही। इस भाषा में इसी से बहुत बड़ा काव्य-साहित्य है।

अवधी भाषा विशेषतया अवध प्रान्त तथा प्रयाग आदि के प्रान्तों में ही सीमित रही। इसका प्रचार-प्रसार अधिक नहीं हुआ, इसलिये इसमें उतना अधिक साहित्य नहीं। केवल तुलसीदास इसके सर्वाग्रगण्य महाकवि हुये, जायसी और कुछ अन्य कवियों ने भी इसमें सुन्दर रचनायें कीं।

खड़ी बोली को साहित्य में प्रविष्ट होने का अवसर १६०० के पश्चात् ही मिलता है इसे मुसलमानों ने अपनाकर अपने ढंग से फारसी के आधार पर निखार-विखार कर उर्दू का रूप दे तो दिया था और उसमें साहित्य का सृजन कर भी रहे थे, किन्तु हम उसे खड़ी बोली कहते हैं जिसे इधर की ओर २०वीं शताब्दी में साहित्य भाषा के रूप में विकसित किया जाकर राष्ट्रभाषा बनाया गया है, यह खड़ी बोली गद्य और पद्य दोनों की भाषा है। खड़ी बोली पर संस्कृत का अच्छा प्रभाव है। इसके एक साधारण रूप को अब हिन्दोस्तानी भी कहा जाता है।

साहित्य और काव्य

साहित्य, जिसका भाषा एक प्रकार का बाहिरी आवरण है, किसी समाज के विद्वानों की वह सुन्दर, सदुपयोगी और सुखद विचार-राशि है, जो भाषा के द्वारा व्यक्त होकर सब के लिये समान रूप से सुलभ हो जाती है और अग्रिम समाज के लिये संचित कर दी जाती है।

काव्य इस प्रकार की राशि का वह भाग है जिसके द्वारा जीवनी के परमोद्देश्य की प्राप्ति होती है। काव्य में न केवल मानसिक विचार ही रहते हैं, वरन् हृदय की भावनायें और कल्पनायें भी चारु चमत्कार के साथ समाकर्षक और सुखद ढंग से रहती हैं।

हमारे देश में साहित्य और काव्य का कब से उदय हुआ इस विषय पर कुछ निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता। हम इतना कह सकते हैं कि इनका उदय सहस्रों वर्ष पूर्व से हुआ है। संस्कृत भाषा में बहुत विस्तृत और विशाल साहित्य है।

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ स्थूल रूप से १२वीं शताब्दी से होता है। यद्यपि इससे भी पूर्व सिद्धों आदि की रचनायें प्राचीन हिन्दी में मिलती हैं।

हिन्दी का सबसे प्राचीन कवि, पुष्य या पुंड्र कहा जाता है, किन्तु इसका कोई ग्रंथ नहीं मिलता। इसलिये चंद बरदायी को ही हिन्दी का सबसे प्रथम महाकवि कहा गया है। इनका पृथ्वीराज रासो, इस समय तक प्राप्त है, यद्यपि उसकी रचना के सम्बन्ध में बहुत-कुछ संदेह है।

जिस समय हिन्दी साहित्य का उदय हुआ, वह समय शान्ति का न था। देश पर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे, यहाँ के राजपूत राजा आपस में भी लड़ भिड़ रहे थे। इस परिस्थिति में आवश्यकता थी वीरगान की। इसलिये कवियों ने वीररस की रचनायें विशेष रूप में कीं। यही इस प्रकार की रचनाओं में वीर-गाथायें प्रधानत हैं, जिनमें वीरों की प्रशंसा की जाती थी, तथा उन्हें देश और धर्म के रक्षार्थ युद्ध करने के लिये प्रोत्साहित किया जाता था। हिन्दी साहित्य के इस काल का नाम इसलिये वीर गाथा काल रक्खा गया है।

हिन्दी साहित्य का देश-काल और परिस्थितियों के परिवर्तन-प्रभाव से जैसी गति विधि रही है, जैसी विशेष विचार धारायें चलती रहती हैं; उनके आधार पर हिन्दी काव्य साहित्य का काल-विभाजन साधारणतया यों किया गया है—

१—वीर-गाथाकाल—११०० ई० से १४०० तक
२—भक्तिकाल १४०० ई० ,, १६०० ,,
३—रीतिकाल १६०० ई० ,, १८०० ,,

४—आधुनिककाल   १८०० ई० से आज तक

इन कालों का संक्षिप्त परिचय देना ही यहाँ अभीष्ट है—

१—वीर-गाथाकाल—इसमें जो काव्य रचा गया उसमें देश-समाज की अशान्त परिस्थिति का पूरा प्रतिबिंब है। यह काव्य वीररस प्रधान है, साथ ही इसमें शृङ्गार रस का भी अच्छा भाग है, क्योंकि राजपूत राजाओं में राज-कन्याओं के अपहरण करने तथा उनके लिये युद्ध करने की परम्परा सी चल पड़ी थी, अतएव प्रथम सुन्दर कन्या के लिये युद्ध होता था, फिर विलास का विधान बनता था। इस प्रकार का काव्य साहित्यिक छंदात्मक शैली गेय या गीत काव्य की शैली में मिलता है, और प्रायः प्रबन्धात्मक या कथात्मक रूप में पाया जाता है।

इस काव्य का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ "पृथ्वीराज रासो" और सबसे प्रसिद्ध महाकवि उसका रचियता चंद्र बरदायी है। इसके अतिरिक्त खुमान रासो, जयचन्द्र प्रकाश (केदार भट्ट कृत) विजय पालसिंह रासो (नलसिंह कृत) मयंक और जयचंद्रिका (मधुकर कवि कृत) तथा गेय काव्य के क्षेत्र में बीसल देव रासो (नरपति नल्ह कृत) विशेष उल्लेखनीय है। इसी काल के अवसान में जगनायक कृत आल्हा काव्य भी, जो गेय काव्य के रूप है, अति प्रचलित हुआ। इसी काल अन्यत्र भी साहित्य रचना हो रही थी। मिथिला में विद्यापति ने हिन्दी में सुन्दर मुक्तक काव्य लिखा है और अमीर खुसरो ने खड़ी बोली में कुछ मुकरियाँ रची हैं।

२—भक्ति या धार्मिक काल—यह काल लगभग १४०० से १६०० सन् तक चलता है। इस काल के प्रारम्भिक काल में कबीर और जायसी

ने सुन्दर रचनायें कीं। कबीर ने तो एकेश्वरवाद और निर्गुणोपासना पर चल दिया। और मूर्ति-खंडन, रोज़ा-नमाज़ की व्यर्थता प्रगट की, साथ ही प्रेम और भक्ति को कुछ प्रधानता दी। जायसी ने अवधी भाषा में प्रेमात्मक आख्यायिकाओं को अन्योक्ति के साथ काव्य में लाकर सूफ़ी सिद्धान्तों, प्रेम और सूफ़ी साधना को प्रधानता दी। लौकिक प्रेम की ओर ले चलकर लोगों को रहस्यात्मक सत्ता की ओर आकृष्ट किया।

कबीर का अनुकरण करते हुए अनेक निम्नश्रेणियों से समुद्भूत संत-कवियों ने भी वैसा ही काव्य लिखा। ये संत लोग थे, इन्हें अपने पंथ-प्रचार से मतलब था, काव्य-रचना से नहीं। नानक, रैदास, मलूकदास आदि इसी श्रेणी के संत हैं। संतों में सब से श्रेष्ठ साहित्यिक रचना सुन्दरदास जी की है।

जायसी का अनुसरण करते हुये मंझन, कुतुबन, शाहमुहम्मद, और क़ासिम आदि ने भी प्रेमाख्यान-काव्य की रचनाओं में भारतीय प्रेम-कहानियों के द्वारा सूफियों के रहस्यवाद-सम्बन्धी मुख्य विचार तथा ईश्वरीय प्रेम का अन्योक्ति पद्धति से चित्रण किया है।

इन काव्यों का देश की जनता पर, विशेषतया उत्कृष्ट श्रेणी की जनता पर तो, विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु हिन्दू जाति की निम्नतर वाली जनता में कुछ गड़बड़ी आने लगी, अतएव देश को भावना-प्रधान न कि ज्ञान-प्रधान धर्म की आवश्यकता हुई। स्वामी वल्लभाचार्य और स्वामी रामानन्द ने इसलिये उत्तर भारत में आकर भावना प्रधान कृष्ण भक्ति और राम भक्ति का प्रकाश किया। इनके प्रभाव से हिन्दी साहित्य में कृष्ण-काव्य और राम-काव्य की सुसंपदा आ गयी।

कृष्ण-काव्य—ब्रज प्रान्त से ब्रज भाषा में सूरदास, नन्ददास तथा अष्ट छाप के अन्य कवियों के द्वारा रचा जाकर समस्त देश के घर-घर में व्यापक हो गया। इसमें ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप के स्थान पर उसका सगुण रूप बड़े रुचिर-रोचक रङ्गों में रक्खा गया है और ईश्वर की उन लीलाओं का गान किया गया है, जिनका सीधा सम्बन्ध मानव-हृदय और उसकी मनोरम वृत्तियों से है। इस काव्य का स्त्री-समाज पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और कबीर के निर्गुण-काव्य से घबड़ाई हुई जनता का हृदय इस ओर रम गया: इन्होंने इस काव्य में भक्ति के साथ ही साथ प्रेम का भी बहुत ही सजीव और साकार चित्रण किया है। कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में सूरदास सब से अधिक प्रसिद्ध और सफल महाकवि हैं। इन्होंने पद-शैली में रचना की है, जिसका अनुकरण न केवल कृष्ण-काव्य के लिखने वाले अन्य कवियों ने ही किया है, वरन् तुलसीदास आदि ने भी किया है। इस काव्य की संगीत माधुरी ने इसे अधिक-लोक प्रिय बनाने में बहुत बड़ी सहायता दी। नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्द, गोविन्द, स्वामी, हितहरिवंश, नागरीदास, भगवत रसिक, अलबेली अलि और मीराबाई आदि को रचनाएं अवलोकनीय और उल्लेखनीय हैं।

राम-काव्य—अवध प्रान्त से अवधी भाषा में गोस्वामी तुलसीदास के द्वारा ऐसी पूर्णता के साथ लिखा गया कि वह साहित्य और समाज दोनों का सदा के लिये शिरमौर हो गया। यह काव्य प्रबन्ध, मुक्तक और गीत तीनों रूप में है। इस काव्य का सबसे उत्कृष्ट ग्रंथ तुलसीदास का रामचरित-मानस है, जो हिन्दी-साहित्य में अप्रतिम ग्रंथ है। तुलसीदास के पश्चात् आचार्य केशवदास ने रामचन्द्रिका नाम से काव्य-कला-कौशल

पूर्ण और पाण्डित्य से भरा हुआ ग्रन्थ रचा। इनके अतिरिक्त नाभादास, हृदयराम, सेनापति, राजा रघुराज सिंह आदि राम-काव्य के सराहनीय लेखक हुए।

सोलह सौ ईसवी के पश्चात् जब से मुग़लों का राज्य भारत में स्थापित हो गया और अकबर ने हिन्दी और हिन्दी-साहित्य की ओर भी ध्यान देना प्रारम्भ किया तब से लोगों का ध्यान काव्य और कवि कर्म की ओर अधिक जाने लगा। अकबर का अनुकरण करते हुये राजपूत राजाओं के दरबार में भी हिन्दी-कवियों और हिन्दी काव्य का सम्मान होने लगा। हिन्दी काव्यों को अब एक ओर संस्कृत के और दूसरी ओर फारसी के कला पूर्ण कुछ कवियों का मुकाबिला करना पड़ा। इसलिये हिन्दी काव्य में भी कला की प्रधानता हो चली और नव कवियों को काव्य कला के जानने की आवश्यकता हुई, इसलिये हिन्दी में रीति ग्रन्थों की एक परम्परा चल पड़ी, जिसके आचार्य केशव सब से प्रथम आचार्य्य हैं। इनकी कवि प्रिया और रसिक प्रिया नामक पुस्तकें सराहनीय हैं। काव्य रचना के केन्द्र अब फिर से राज दरबार हो गये और भक्ति काल के समान साधारण जनता के बीच से उठ गये। इस काल में भक्ति और काव्य की धारायें न्यूनाधिक रूप में चलती रहीं साथ ही मुक्तक काव्य और रीति काव्य की कुछ परिपाटियाँ प्रबल हो उठीं। इसी काल में कई प्रकार की रचना शैलियों का भी प्रादुर्भाव हुआ। रूप सौन्दर्य वर्णन, हाव भाव तथा अनुभावादिक के सजीव शाब्दिक चित्रकूट, ऋतु वर्णन के रूप में प्रकृति चित्रण तथा भावों का चमत्कृत वैचित्र्य पूर्ण अभिव्यञ्जन का प्राबल्य हुआ। कवि प्रतिभा की परख के लिये समस्या पूर्ति की प्रणाली भी चल

पड़ी। इस काल के प्रमुख लेखकों में से बिहारी, मतिराम, भूषण, देव, यशवन्तसिंह, चिन्तामणि त्रिपाठी आदि हैं। इस काल में एक ओर तो कवि ग्रन्थ रचते थे और दूसरी ओर रीति ग्रन्थों के आधार पर अपनी प्रतिभा का प्रकाशन करते और तीसरी ओर कुछ कवि जिनमें से घनानन्द, रसखान, बेनी प्रवीन, ठाकुर और आलम आदि उल्लेखनीय हैं। काव्य कला उक्ति वैचित्र्य पूर्ण स्वतन्त्र रचनायें करते थे। इस काल में सतसई, बावनी, चौंतीसी आदि कतिपय नई रचना शैलियाँ प्रचलित हुईं तथा कवित्त, सवैया, छन्दों का विशेष प्रचार हुआ।

नीति-सम्बन्धी रचनाकारों में वृन्द कवि, रहीम, गिरधरदास, दीन-दयाल गिरि, उल्लेखनीय हैं। कुछ कवियों ने नैषध-चरित्र, ब्रज विलास और हम्मीर हठ जैसे कुछ प्रबन्ध काव्य सम्बन्धिनी रचनायें भी की हैं। औरङ्गजेब की हिन्दी-हिन्दू विरोधी नीति के कारण देश में फिर कुछ अशान्ति हुई और उसके फल-स्वरूप ये कवियों की वीर वाणी फिर खुली। भूषण इस प्रकार की वीर वाणी के पटुत्व प्राप्त कवि हैं। इनके अतिरिक्त गोरे लाल, सूदन तथा पद्माकर भी उल्लेखनीय हैं। पद्माकर को जितनी सफलता काव्य कला पूर्ण मुक्तक रचना में हुई है, उतनी प्रबन्धात्मक वीर काव्य में नहीं।

आधुनिक-काल :—अट्ठारह सौ ईसवी से देश में फिर दो नये परिवर्तन हुए। मुगल साम्राज्य के स्थान पर ब्रिटिश साम्राज्य का प्रसार हो चला और लगभग १८६० तक यह साम्राज्य पूर्णतया स्थापित हो गया। तब से देश में अधिक शान्ति आ गई। शिक्षा का प्रसार हुआ। अँग्रेज़ी भाषा और साहित्य से हिन्दी का सम्पर्क हुआ। मुद्रण-कला, रेल,

सनेही अधिक उल्लेखनीय रचनायें की। पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने विस्मृत (अतुकान्त) वर्ण वृत्त शैली का फिर से उपयोग खड़ी बोली के क्षेत्र में किया। 'प्रियप्रवास' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इधर की ओर रचना शैली और भाव-धारा में नये कवियों ने बहुत कुछ परिवर्तन उपस्थित किया है। रहस्यवाद और छायावाद नाम की दो प्रमुख धारायें नये रूप में आई हैं। मिश्रित छन्दों का भी प्रयोग बढ़ गया है और अभी थोड़े समय से गीत-शैली का भी प्रचुर प्राबल्य हो चला है।

प्राचीन वीर काव्य ने राष्ट्रीय काव्य का स्वरूप ग्रहण कर लिया है, साथ ही अंगरेज़ी और बंगला के साहित्यों के प्रभाव से बहुत से नये विचार और विषय खड़ी बोली के काव्य में आ गये हैं। खड़ी बोली और व्रजभाषा के मिश्रित स्वरूप को लेकर नाथूराम शंकर शर्मा, लाला भगवान दीन जैसे कवियों ने अच्छी रचनायें की हैं। गोपालशरण सिंह रुपनारायण पांडेय, सियाराम शरणगुप्त, और अनुप शर्मा आदि प्राचीन शैली के साथ खड़ी बोली में रचना करने वालों में विशेष उल्लेखनीय हैं। जयशङ्कर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' सुमित्रानन्दन पंत तथा कुछ ऐसे ही अन्य नये कवियों ने रहस्यवाद और छायावाद में सुन्दर रचनायें की हैं। इस युग के प्रमुख कवियों में श्री दिनकर, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० श्यामनारायण पाण्डेय इत्यादि का भी प्रमुख स्थान है। कवियित्रियों में सुभद्राकुमारी चौहान, महादेवी वर्मा, तोरनदेवी लली, 'चकोरी' और राजराजेश्वरी देवी "नलनी" उल्लेखनीय हैं।

विषय-सूची

महात्मा सूरदास जी

(काशी नागरी प्रचारिणी सभा के चित्र से)

१—सूरदास

जन्म-संवत्—१५४० मृत्यु संवत्—१६२०

दिल्ली के समीप सीही नामक ग्राम में सूरदास जी का जन्म स्थान है। कुछ लोग यह कहते हैं कि रुनकता नाम गाँव में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम रामदास कहा जाता है। यह भी कहा जाता है कि इनकी दृष्टि-शक्ति नष्ट हो गई थी।

सूरदास जी के गुरु श्री वल्लभाचार्य थे। वल्लभाचार्य के आदेश से इन्होंने श्रीमद्भागवत के आधार पर सूरसागर की रचना की। ब्रजभाषा के आठ कवियों की अष्टछाप में इनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

सूरदास ने मानव जीवन की दुर्बलता को स्वीकार कर उसे ईश्वर के आनन्द और प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में दिखलाया है। जीवन में जो सुख दुख, हानि-लाभ और संयोगवियोग हम देखा करते हैं वह उसी की लीला है। इसी द्वन्द्व मात्र से भगवान् हमारे आनन्द और प्रेम को परिपूर्ण करते हैं।

सूर की रचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये एक अनुरक्त सखा की भाँति कृष्णचन्द्र जी की लीलाओं का वर्णन कर रहे हैं। इनके वर्णन में प्रेम है, विलास है और भक्ति है—कहीं भी वियोग की व्याकुलता नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि मानों इन्होंने श्रीकृष्णचन्द्र जी का सान्निध्य प्राप्त कर लिया था।

भाषा और शैली—

सूरदास की भाषा ब्रजभाषा है, उसमें ब्रज की माधुरी छलकी पड़ती है। इनकी भाषा में मधुरता सरसता और सरलता है, भाषापूर्ण सयत और परिष्कृत है। इन्होंने गीति काव्य में अपनी प्रतिभा सफलता प्रदर्शित की है। सगीत की दृष्टि से इनके अनन्य पद बहुत उच्च कोटि के हैं जो सगीत प्रेमियों को बहुत प्रिय हैं इनके पद केवल लय अथवा ताल की दृष्टि से ही ऊँचे नहीं हैं, किन्तु उनमें हृदय पर एक मधुर वेदना छोड़ जाने की भी पूर्ण क्षमता है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ—

१—सूरसागर

२—साहित्य लहरी (दृष्टकूट)

पद

[१]

जागिये ब्रजराज कुँवर, कमल कुसुम फूले।
कुमुद वृंद सकुचत भय, भृंग-लता भूले॥
तमचुर खग रौर सुनहु, बोलत वनराई।
राँभति गौ खरिकन में, बछरा हित धाई॥
विधु मलीन रवि-प्रकास, गावत नर-नारी।
'सूर' स्याम प्रात उठौ, अंबुज कर-धारी॥

[२]

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै॥
रूप, रेख, गुन, जाति, जुगुति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारत ताते सूर सगुन लीला पद गावै॥

[३]

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै॥
कमल नयन को छांड़ि महातम और देव को ध्यावै।
परम गंग को छांड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै॥

जिन मधुकर अम्बुजरस चाख्यो क्यों करील फल खावै ।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ॥

[४]

प्रभु मेरो अवगुन चित न धरो !
समदरसी है नाम तिहारो अपने पनहि करो ॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो ।
यह दुविधा पारस नहीं जानत कंचन करत खरो ॥
एक नदिया एक नार कहावत, मैलो नीर भरो ।
जब मिलिकै दोउ एक बरन भय सुरसरि नाम परो ॥
एक जीव, एक ब्रह्म कहावत, 'सूर स्याम' झगरो ।
अबकी बेर नाथ मोहि तारो, नहि प्रन जात टरो ॥

[५]

जसोदा हरि पालने झुलावै ।
हलरावै दुलराई मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै ॥
मेरे लाल को निंदरिया काहे न आनि सुवावै ।
तू काहे न बेगि सी आवै तोको कान्ह बुलावै ॥
कबहुँ पलक हरि मूंदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै ।
सोवत जानि मौन ह्वै रहि रहि करि करि सैन बतावै ॥
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरे गावै ।
जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुरलभ सो नँदभामिनि पावै ॥

[६]

जेंवत स्याम नंद की कनियाँ।
कछुक खात कछु धरनि गिरावत छबि निरखत नँदरनियाँ॥
बरी बरा बेसन बहु भाँतिन व्यंजन बहु अनगनियाँ।
डारत खात लेत अपने कर रुचि मानत दधिदनियाँ॥
मिसिरी दधि माखन मिस्रित करि मुख नावत छबिधनियाँ।
आपुन खात नंद मुख नावत सो सुख कहत न बनियाँ॥
जो रस नंद जसोदा बिलसत सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।
भोजन करि नंद अँचवन कीन्हों, माँगत 'सूर' जुठनियाँ॥

[७]

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोंहि दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।
काढ़त, गुहत, नहावत, ओछत, नागिन सी भ्वै लोंटी॥
काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी।
सूर स्याम चिरजीवो दोऊ भैया हरि हलधर की जोटी॥

[८]

बलि बलि जाऊँ मधुर सुर गावहु।
अबकी बार मेरे कुंवर कन्हैया, नंदहि नाच देखावहु॥
तारी देहु आपने कर की, परम प्रीति उपजावहु।
आन जंत्र धुनि सुनि डरपत कत, मो भुज कंठ लगावहु॥

जनि संका जिय करो लाल मेरे, काहे को भरमावहु।
बाँह उँचाइ कालि की नाईं, धौरी धेनु बुलावहु॥
नाचहु नेकु जाउँ बलि तेरी, मेरी साध पुरावहु।
रतनजटित किंकिनि पग नूपुर, अपने रंग बजावहु॥
कनक खंभ प्रतिबिंबित सिसु इक, लौनी ताहि खवावहु।
'सूर' स्याम मेरे उर ते कहुँ, टारे नेकु न भावहु॥

[९]

बाल-विनोद खरो जिय भावत।
मुख प्रतिबिंब पकरिबे कारन हुलसि घुटुरुवनि धावत॥
छिनक माँझ त्रिभुवन की लीला सिसुता माँहि दुरावत।
सबद एक बोल्यो चाहत हैं प्रगट बचन नहिं आवत।
कमल नैन माखन माँगत हैं ग्वालिन सैन बतावत।
'सूर' स्याम सु सनेह मनोहर जसुमति प्रीति बढ़ावत॥

[१०]

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधिलेप किए॥
चारु कपोल लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिए।
लट लटकनि मनो मत्त मधुपगन, मादक मदहि पिए॥
कठुला कंठ बज्र, केहरि-नख राजत रुचिर हिए।
धन्य 'सूर' एकौ पल या सुख, का सत कल्प जिए॥

[११]

किहि बिधि करि कान्है समुझैहौं।
मैं ही भूलि चंद दिखरायो, ताहि कहत "मोहि दै, मैं खैहौं ॥"
अनहोनी कहुँ होत कन्हैया ! देखी सुनी न बात।
यह तौ आहि खिलौना सबको, खान कहत तेहि बात ॥
यहै देत लवनी नित मोको, छिन छिन साँझ सबारे।
बार बार तुम माखन माँगत, देउँ कहाँ ते प्यारे ॥
देखत रहौ खिलौना चंदा, आरि न करो कन्हाई।
'सूर' स्याम लियो महरि जसोदा, नंदहि कहत बुझाई ॥

[१२]

आजु मैं गाय चरावन जैहौं।
वृन्दावन के भाँति भाँति फल अपने कर मैं खैहौं ॥
ऐसी बात कहो जनि बारे देखो अपनी भाँति।
तनक तनक पग चलिहौ कैसे, आवत ह्वै हैं राति ॥
प्रात जात गैयाँ लै चारन, घर आवत हैं साँझ।
तुम्हरो कमल बदन कुम्हिलैहैं, घूमत घामहिं माँझ ॥
तेरी सौं मोहि, घाम न लागत, भूख कहूँ नहिं नेक।
सूर स्याम प्रभु कह्यो न मानत, परे आपनी टेक ॥

[१३]

मैया मैं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मो सों मेरे पायँ पिराइ।
जो न पत्याहु पूछ बलदाउहि अपनी सौंह दिवाइ।

मैं पठवति अपने लरिका कू आवै मन बहराइ।
सूर स्याम मेरो अति बालक मारत ताहि रिगाइ॥

[१४]

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीनो तोहि जसुमति कब जायो।
कहा कहौं यहि रिस के मारे हौं खेलन नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, कौन तिहारो तात।
गोरे नंद, यशोदा गोरी, तुम कत श्याम शरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर।
तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि, जसुमति मन अति रीझै।
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
सूर श्याम मो गोधन की सौं, हौं माता तू पूत।

[१५]

मैया मेरी मैं माखन नहिं खायो।
भोर भयो गैयन के पीछे मधुबन मोहिं पठायो।
चार पहर बंसीबट भटक्यो साँझ परे घर आयो।
मैं बालक बहियन को छोटो सीको केहि बिधि पायो।
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो।
तू जननी मन की अति भोरी, इनके कहे पतियायो।
जिय तेरे कछु भेद उपज है, जान परायो जायो।

यह ले अपनी लकुट कमरिया, बहुतकि नाच नचायो।
सूरदास तब बिहँसि जसोदा, लै उर-कंठ लगायो।

[१६]

यशोदा, तेरो भलो हियो है माई।
कमल-नयन माखन के कारण बाँधे ऊखल लाई।
जो सम्पदा देव-मुनि दुर्लभ सपनेउ दे न दिखाई।
याही तें तू गर्व भरी है घर बैठे निधि पाई।
तब काहू को सुत रोवत सुनि दौरि लेति हिय लाई।
अब काहे घर के लरिका सों करत इती जड़ताई।
बारंबार सजल लोचन करि रोवत कुँवर कन्हाई।
कहा करौं बलि जाउँ, छोरती तेरी सौंह दिवाई।
जो मूरति जल थल में व्यापक, निगम न खोजत पाई।
सो जसुमति अपने आँगन में दै करताल नचाई।
सुर-पालक, सब असुर सँहारक, त्रिभुवन जाहि डराई।
सूरदास, प्रभु की यह लीला निगम नेति नित गाई।

[१७]

बिधातहिं चूक परी मैं जानी।
आजु गोबिंदहिं देखि दखि हौं, इहै समुझि पछितानी।
रचि पचि सोचि सँवारि सकल अंग, चतुर चतुरई ठानी!
दीठि न दई रोम रोमनि प्रति, इतनिहिं कला नसानी।
कहा करौं अति सुख दुइ नैना, उमँगि चलत भरि पानी॥
'सूर' सुमेर समाइ कहाँ धौं, बुधि बासनी पुरानी॥

[१८]

नैना ढीठ अति ही भए।
लाज लकुट दिखाइ त्रासैं तौहूँ यै न नए।
तोरि पलक कपाट घूँघट ओट मेंटि गए।
मिले हरि को जाइ आतुर जेहैं गुननि गए।
मुकुट कुंडल पीत पट कटि ललित भेस ठए।
जाइ लुब्धे निरखि वह छबि सूर नन्द जए।

[१९]

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्रान दह्यो।
अलि सुत प्रीति करी जल सुत सों सम्पुट हाथ गह्यो।
सारंग प्रीति करी जो नाद सों सन्मुख बाँण सह्यो।
हम जो प्रीति करी माधव सों चलत न कछु कह्यो।
सूरदास प्रभु बिन दुख दूनो नैनन नीर बह्यो।

[२०]

नैना भये अनाथ हमारे।
मदन गोपाल यहाँ ते सजनी सुनियत दूरि सिधारे।
वे जल सर हम मीन बापुरी कैसे जिवहिं निनारे।
हम चातक चकोर स्याम घन वदन सुधानिधि प्यारे।
मधुवन बसत आस दरसन की जोइ नैन मग हारे।
सूर स्याम करो पिय ऐसी मृतकहुँ ते पुनि मारे।

[२१]

मुरली अति गर्व काहु बदति नाहिं आजु ।
हरि को मुखकमल देखि पायो सुख राजु ॥
बैठति कर पीठ, ढीठ अधर छत्र छाहीं ।
चमर चिकुर राजत तहँ, सुभग सभा माही ॥
जमुना के जलहिं नाहिं जलधि जान देति ।
सुरपुर तें सुर विमान भुवि भुलाई लेति ॥
बंसी बस सकल 'सूर' सुर नर मुनि नागा ।
श्रीपतिहू श्री बिसारि एही अनुरागा ॥

[२२]

मुरली तऊ गोपलहिं भावति ।
सुन री सखी जदपि नँदनंदहिं, नाना भाँति नचावति ॥
राखति एक पायँ ठाढ़ो करि, अति अधिकार जनावति ।
कोमल अंग आपु आज्ञा गुरु, कटि टेढ़ी ह्वै जावति ॥
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरधर नारि नवावति ।
आपुन पौढ़ि अधर सेज्या पर, कर-पल्लव सन पद पलुटावति ॥
भृकुटी कुटिल फरक नासा पुट, हम पर कोपि कुपावति ।
'सूर' प्रसन्न जानि एकौ छिन, अधर सु सीस डुलावति ॥

[२३]

कहाँ लौं कीजै बहुत बडाई ।
अति अगाध मन अगम अगोचर मन सों वहां न जाई ।
जा के रूप न रेख बरन बपु नाहिन सखा सहाई ।
ता निर्गुण सो नेह निरन्तर क्यों निबहै री माई ।

जल बिन तरँग भीति बिन लेखन बिन चेतहि चतुराई।
या ब्रज में कछु नहीं चाह है ऊधो आनि सुनाई।
मन चुभि रह्यो माधुरी मूरति अग अग उरझाई।
सुन्दर श्याम कमल दल लोचन सूरदास सुखदाई।

[२४]

सखीरी श्याम कहा हित जानै।
कोऊ प्रीति करै कैसेहू, वे अपनो गुन ठानै॥
देखो या जलधर की करनी, बरसत पोषै आनै।
'सूरदास' सरबस जो दीजै, कारो कृतहि न मानै॥

[२५]

ऊधो यह हरि कहा कर्यो ?
राज काज चित दयो साँवरे गोकुल क्यों बिसर्यो।
जौ लौ घोस रहे तौ लौं हम सन्तत सेवा कीनी॥
बारक कबहुँ उलूखल बाँधे सोई मानि जिय लीनी॥
जो तुम काटि करो ब्रजनायक बहुतै राजकुमारि।
तौ ये नद पिता कहँ मिलिहै अरु जसुमति महतारि॥
कहँ गोधन कह गोप-वृन्द सब कहँ गोरस को रैबो।
'सूरदास' अब सोई करो जिहि होय कान्ह को ऐबो॥

[२६]

मधुबन, तुम कत रहत हरे ?
बिरह-बिजोग स्याम सुन्दर के, ठाड़े क्यों न जरे।

तुम हो निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे ॥
ससा स्यार औ बन के पखेरू, धिक् धिक सबन्ह करे।
कौन काज ठाड़े रहें बन में, काहे न उकठि परे॥

[२७]

ऊधो, मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुंदर कगरी अरु कुंजन की छाहीं॥
वे सुरभी, वे बच्छ, दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल-बाल सब करत कोलाहल नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुकुताहल जाहीं।
जबहि सुरति आवत वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीं॥
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा नंद निबाही।
'सूरदास' प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं॥

[२८]

छाँड़ि मन हरि बिमुखन को संग।
जाके संग कुबुधि उपजति है परत भजन में भंग॥
कहा भयो पय पान कराये, बिष नहिं तजत भुजंग।
कागहि कहा कपूर खवाये स्वान न्हवाये गंग।
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषन अंग॥
गज को कहा न्हवाये सरिता, बहुरि धरै खहि छंग॥
पाहन पतित बान नहिं बेधत रीतो करत निषंग।
'सूरदास' खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग॥

[२६]

ऐसी प्रीति की बलि जाऊँ।
सिंहासन तजि चले मिलन कौं सुनत सुदामा नाउँ॥
गुरु बाधव अरु विप्र जानि कै हाथनि चरन पखारे।
अंक माल दै, कुसल बूझि कै, अर्धासन बैठारे॥
अर्धांगी बूझति मोहन सौं कैसे हितू तिहारे।
दुरबल, दीन, छीन देखति हौं पाउँ कहाँ तैं धारे॥
सदीपन के हम औ सुदामा पढ़े एक चटसार।
'सूर' स्याम की कौन चलावै भगतनि कृपा अपार॥

[३०]

हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुनु अर्जुन परतिग्या मेरी, यह ब्रत टरत न टारे॥
भक्तै काज लाज हिय धरि कै पाइ पयादे धाऊँ।
जहँ जहँ भीर परै भक्तन पै तहँ तहँ जाइ छुड़ाऊँ॥
जो मम भक्त सो बैर करत हैं सो निज बैरी मेरो।
देखि बिचारि भक्त हित कारन, हाँकत हौं रथ तेरो॥
जीते जीत भक्त अपने की हारे हारि बिचारौं।
'सूरदास' सुनि भक्त विरोधी, चक्र-सुदर्शन जारौं॥
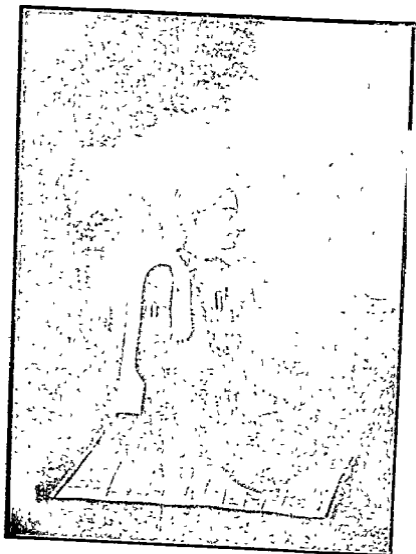
गोस्वामी तुलसीदास

२—तुलसीदास

जन्म सवत्—१५८९ मृत्यु-सवत्—१६८०

विद्वानों की राय में राजापुर नामक ग्राम म गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे था और माता का हुलसी। इनके गुरु का नाम नरहरिदास बतलाया जाता है।

इनकी मृत्यु के विषय म यह दोहा प्रसिद्ध है—

सवत् सोलह सौ असी, असी गग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यौ शरीर॥

कहा जाता है कि जन्म से ही ये माता पिता द्वारा परित्यक्त हुए। इनके गुरु ने ही इनका लालन पालन किया। अपने जीवन काल में इन्होंने कितने ही प्रकार के कष्ट सहे हैं।

तुलसीदास जी की रचनाओं मे लोक कल्याण और लोक सेवा के भाव का आधिक्य है। इनके भगवान मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र हैं। इनके वर्णन म सर्वत्र सयम है। इन्होंने स्मृति शास्त्र की मर्यादा का कहीं भी उल्लघन नहीं किया है। इनमें विवेक है, शील है और सयम के साथ त्याग है। उसकी यथार्थ परीक्षा के अधिकारी प्रेमीजन ही हैं। तुलसीदास जी ने सभी रसों के वर्णन मे भक्ति भाव को ही प्रधानता दी है। उनके शृङ्गार रस में भक्ति का सम्मिश्रण होने से एक अपूर्व कोमलता आ गई है। करुण रस में विषाद की एक गम्भीरता है। हास्य रस में भी गम्भीरता विद्यमान है। वीर, रौद्र और वीभत्स रस में शान्ति की

धारा बह गई है। युद्ध-स्थल में भी भगवान् का रूप लोकाभिराम है। युद्ध क्या है मानो वर्षाकाल में प्रकृति का विलास है। इस प्रकार गोस्वामी जी ने सर्वत्र शील, सेवा और संयम की ही प्रतिष्ठा की है।

भाषा और शैली

इन्होंने अवधी और व्रजभाषा दोनों में रचनाएं की है। इनका दोनों भाषाओं पर पूरा अधिकार था। रामचरितमानस प्रबंध काव्य है और अवधी भाषा में है। विनयपत्रिका, कृष्णगीतावली, गीतावली, कवितावली की रचना परिष्कृत व्रजभाषा में है। इन्होंने अपने समय की सभी प्रचलित शैलियों में रचना की है। कवितावली में वीर काव्य के उपयुक्त छप्पय, झूलना, सवैया, घनाक्षरी आदि छंदों की शैली है और विनय पत्रिका में गीति शैली। उनकी दोहावली, रामसतसई रामाज्ञा आदि में दोहा शैली है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ

१—रामचरितमानस	२—विनयपत्रिका
३—कवितावली	४—गीतावली
५—दोहावली	६—बरवै-रामायण
७—कृष्णगीतावली	

धनुष-भंग

विश्वामित्र समय सुभ जानी।
बोले अति-सनेह-मय बानी॥
उठहु राम भंजहु भवचापू।
मेटहु तात जनक परितापू॥
सुनि गुरुवचन चरन सिरु नावा।
हरष बिषाद न कछु उर आवा॥
ठाढ़ भये उठि सहज सुभाये।
ठवनि जुबा मृगराज लजाये॥

दोहा

उदित उदय-गिरि-मंच पर, रघुबर बालपतंग।
बिगसे संत सरोज सब, हरषे लोचनभृंग॥

चौपाई

नृपन्ह केरि आसा निसि नासी।
बचननखतअवली न प्रकासी॥
मानी महिप कुमुद सकुचाने।
कपटी भूप उलूक लुकाने॥
भये बिसोक कोक मुनि देवा।
बरपहिं सुमन जनावहिं सेवा॥
गुरुपद बन्दि सहित अनुरागा।
राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा॥

सहजहिं चले सकल-जग-स्वामी।
मत्त-मंजु-बर-कुंजर-गामी॥
चलत राम सब पुर-नर-नारी।
पुलक-पूरि-तन भए सुखारी॥
बन्दि पितर सब सुकृत सँभारे।
जौं कछु पुन्य प्रभाव हमारे॥
तौ सिवधनु मृनाल की नाईं।
तोरहिं राम गनेस गोसाईं॥

दोहा

रामहिं प्रेम समेत लखि, सखिन्ह समीप बोलाइ।
सीतामातु सनेह बस, बचन कहै बिलखाइ॥

चौपाई

सखि सब कौतुक देखनिहारे।
जेउ कहावत हितू हमारे॥
कोउ न बुझाइ कहइ नृप पाहीं।
ए बालक अस हठ भल नाहीं॥
रावन बान छुआ नहिं चापा।
हारे सकल भूप करि दापा॥
सो धनु राज-कुँअर-कर देहीं।
बालमराल कि मंदर लेहीं॥
भूपसयानप सकल सिरानी।
सखि बिधिगति कछु जाति न जानी॥

बोली चतुर सखी मृदुबानी।
तेजवंत लघु गनिअ न रानी॥
कहँ कुंभज कहँ सिन्धु अपारा।
सोखेउ सुजस सकल संसारा॥
रविमंडल देखत लघु लागा।
उदय तासु त्रि-भुवन तम भागा॥

दोहा

मंत्र परम लघु जासु बस, विधि हरि हर सुर सर्व।
महा-मत्त-गज-राज कहँ, बस कर अंकुस खर्व॥

चौपाई

काम-कुसुम-धनु - सायक लीन्हे।
सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥
देवि तजिय संसय अस जानी।
भंजब धनुप राम सुनु रानी॥
सखी बचन सुनि भइ परतीती।
मिटा बिषाद बढ़ी अति प्रीती॥
तब रामहिं बिलोकि वैदेही।
सभय हृदय विनवति जेहि तेही॥
मनहीं मन मनाव अकुलानी।
होउ प्रसन्न महेस भवानी॥
करहु सुफल आपन सेवकाई।
करि हित हरहु चाप गरुआई॥

गननायक बरदायक देवा।
आजु लगे कीन्हेउँ तव सेवा॥
बार बार सुनि बिनती मोरी।
करहु चाप गरुता अति थोरी॥

दोहा

देखि देखि रघु बीर तन, सुर मनाव धरि धीर।
भरे बिलोचन प्रेम जल, पुलकावली सरीर॥

चौपाई

नीके निरखि नयन भरि सोभा।
पितुपन् सुमिरि बहुरि मन छोभा॥
अहह तात दारुन हठ ठानी।
समुझत नहिं कछु लाभ न हानी॥
सचिव सभय सिख देइ न कोई।
बुध समाज बड़ अनुचित होई॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा।
कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥
बिधि केहि भाँति धरऊँ उर धीरा।
सिरिस-सुमन कन बेधिय हीरा॥
सकल सभा कै मति भै भोरी।
अब मोहि संभु चाप-गति तोरी॥
निज जड़ता लोगन्ह पर डारी।
होहु हरुअ रघुपतिहि निहारी॥

अति परिताप सीयमन माहीं।
लवनिमेप जुगसम चलि जाही॥

दोहा

प्रभुहि चितै पुनि चितै महि राजत लाचन लोल।
खेलत मनसिज-मोन जुग जनु बिधुमडल डोल॥

चौपाई

गिराअलिनि मुखपकज रोकी।
प्रगट न लाजनिसा अवलोकी॥
लोचन जल रह लोचन कोना।
जैसे परम कृपन कर सोना॥
सकुची व्याकुलता बड़ि जानी।
धरि धीरज प्रतीति उर आनी॥
तन मन वचन मोर मन साचा।
रघुपति पद सरोज चितु राचा॥
तौ भगवान सकल उर वासी।
करिहहिं मोहि रघुबर कै दासी॥
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलै न कछु सदेहू॥
प्रभु तन चितै प्रेमपन ठाना।
कृपानिधान राम सब जाना॥
सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे।
चितव गरुड़ लघु व्यालहि जैसे॥

दोहा

लपन लखेउ रघुबंस मनि, ताकेउ हरकोदंड।
पुलकि गात बोले बचन, चरनि चाँपि ब्रह्मंड॥

चौपाई

दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला।
धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥
राम चहहिं संकर धनु तोरा।
होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥
चाप समीप राम जब आये।
नर नारिन्ह सुर सुकृत मनाये॥
सब कर संसय अरु अज्ञानू।
मंद महीपन्ह कर अभिमानू॥
भृगुपति केरि गरब गरुआई।
सुर मुनि बरन्ह केरि कदराई॥
सिय कर सोच जनक पछितावा।
रानिन्ह कर दारुन-दुख-दावा॥
संभुचाप बड़ बोहित पाई।
चढ़े जाइ सब संग बनाई॥
राम-बाहु बल-सिंधु अपारू।
चहत पार नहिं कोउ कनहारू॥

दोहा

राम बिलोके लोग सब, चित्र लिखे से देखि।
चितै सीय कृपायतन, जानी बिकल बिसेखि॥

चौपाई

देखी विपुल बिकल बैदेही।
निमिष बिहात कलपसम तेही॥
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा।
मुए करै का सुधा-तड़ागा॥
का बरषा जब कृषी सुखाने।
समय चुके पुनि का पछिताने॥
अस जिय जानि जानकी देखी।
प्रभु पुलके लखि प्रीति-बिसेखी॥
गुरुहि प्रनाम मनहिं मन कीन्हा।
अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा॥
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ।
पुनि नभ धनु मंडल-सम भयऊ॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े।
काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।
भरेउ भुवन धुनि घोर कठोरा॥

छन्द

भरे भुवन घोर कठोर रव,
रविबाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि,
अहि कोल कूरम कलमले॥

सुर असुर मुनि नर कान दीन्हें,
सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी,
जयति बचन उचारहीं॥

सोरठा

संकर चाप जहाज, सागर रघुबर-बाहुबल।
बूड़ सो सकल समाज, चढ़े जो प्रथमहिं मोहबस॥

चौपाई

प्रभु दोउ चाप खंड महि डारे।
देखि लोग सब भए सुखारे॥
कौसिक-रूप-पयोनिधि पावन।
प्रेमबारि अवगाह सुहावन॥
राम - रूप - राकेस निहारी।
बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥
बाजे नभ गहगहे निसाना।
देवबधू नाचहिं करि गाना॥
ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा।
प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा॥
बरषहिं सुमन रंग बहु माला।
गावहिं किन्नर गीत रसाला॥

रही भुवन भरि जय जय बानी।
धनुष भंग धुनि जात न जानी॥
मुदित कहहिं जहँ तहँ नर नारी।
भंजेउ राम संभुधनु भारी॥

दोहा

बन्दी मागध सूत गन, बिरद बदहिं मतिधीर।
करहिं निछावरि लोग सब, हय गय धन मन चीर॥

चौपाई

झाँझ मृदंग शंख सहनाई।
भेरि ढोल दुन्दुभी बजाई॥
बाजहिं बहु बाजन सुहाये।
जहँतहँ युवतिन मंगल गाये॥
सखिन सहित हरषित अति रानी।
सूखत धान परा जनु पानी॥
जनक लहेउ सुख सोच बिहाई।
पैरत थके थाह जनु पाई॥
श्रीहत भये भूप धनु टूटे।
जैसे दिवस दीप छबि छूटे॥
सिय हिय सुख बरनि केहि भाँती।
जनु चातक पाये जल स्वाँती॥

रामहिं लषन विलोकत कैसे।
शशिहिं चकोरकिशोरक जैसे॥
सतानन्द तब आयसु दीन्हा।
सीता गमन राम पहँ कीन्हा॥

दोहा

संग सखी सुन्दरि चतुर, गावहिं मंगलचार।
गवनी बाल मराल गति, सुखमा अंग अपार॥

चौपाई

सखिन मध्य सिय सोहति कैसी।
छबिगन मध्य महाछबि जैसी॥
कर सरोज जयमाल सुहाई।
विश्वविजय सोभा जनु छाई॥
तन सकोच मन परम उछाहू।
गूढ़ प्रेम लखि परै न काहू॥
जाइ समीप राम छबि देखी।
रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी॥
चतुर सखी लखि कहा बुझाई।
पहिरावहु जयमाल सुहाई॥
सुनत युगल कर माल उठाई।
प्रेम बिवस पहिराइ न जाई॥
सोहत जनु युग जलज सनाला।
ससिहि सभीत देत जयमाला॥

गावहिं छबि अवलोकि सहेली।
सिय जयमाल राम उर मेली॥

सोरठा

रघुबर उर जयमाल, देखि देव बरषहिं सुमन।
सकुचे सकल भुआल, जनु बिलोकि रवि कुमुदगन॥

चौपाई

पुर अरु व्योम बाजने बाजे।
खल भये मलिन साधु सब गाजे॥
सुर किन्नर नर नाग मुनीसा।
जय जय कहि सब देहिं असीसा॥
नाचहिं गावहिं बिबुध बधूटी।
बार बार कुसुमावलि छूटी॥
जहँ तहँ बिबुध वेदध्वनि करहीं।
बन्दी बिरदावलि उचरहीं॥
महि पाताल नाक यस व्यापा।
राम बरि सिय भजेउ चापा॥
करहिं आरती पुर-नर-नारी।
देहिं निछावरि बित्त बिसारी॥
सोहति सीयराम की जोरी।
छबि श्रृंगार मनहुँ इक ठोरी॥
सखी कहहिं प्रभुपद गहु सीता।
करति न चरन परस अति भीता॥

दोहा

गौतमतियगतिसुरतिकरि, नहिं परसति पद पानि।
मन बिहँसे रघुबंसमनि, प्रीति अलौकिक जानि॥

शरद-वर्णन

चौपाई

बर्षा - बिगत सरद रितु आई।
लछिमन देखहु परम सुहाई॥
फूले कास सकल महि छाई।
जनु बरसा - कृत प्रगट बुढ़ाई॥
उदित अगस्त पंथ जल सोखा।
जिमि लोभहिं सोखै संतोषा॥
सरिता सर निरमल जल सोहा।
संत हृदय जस गत-मद - मोहा॥
रस रस सूख सरित सर पानी।
ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी॥
जानि सरद - रितु खंजन आये।
पाय समय जिमि सुकृत सुहाये॥
पंक न रेनु, सोह अस धरनी।
नीति निपुन नृप की जस करनी॥
जल संकोच बिकल भये मीना।
बिबिध कुटुंबी जिमि धन हीना॥

बिन घन निरमल सोह अकासा।
जिमि हरि-जन परिहर सब आसा॥
कहुँ-कहुँ वृष्टि सारदी थोरी।
कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥

दोहा

चले हरपि, तजि नगर, नृप, तापस, बनिक भिखारि।
जिमि हरि-भगतिहिं पाय स्रम, तजहिं आस्रमी चारि॥

चौपाई

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा।
जिमि हरि-सरन न एकउ बाधा॥
फूले कमल सोह सर कैसे।
निरगुन ब्रह्म सगुन भये जैसे॥
गुंजत मधुकर-निकर अनूपा।
सुन्दर खग-रव नाना रूपा॥
चक्रवाक-मन दुख निसि पेखी।
जिमि दुरजन पर-संपति देखी॥
चातक रटत तृषा अति ओही।
जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही॥
सरदातप निसि ससि अपहरई।
संत-दरस जिमि पातक टरई॥
देखहिं बिधु चकोर-समुदाई।
चितवहिं जिमि हरि-जन हरि पाई॥

मसक-दंस बीते हिम त्रासा।
जिमि द्विज-द्रोह किये कुल नासा॥
भूमि जीव संकुल रहे, गये सरद-रितु पाय।
सद्गुरु मिले ते जाहिं जिमि, संसय-भ्रम-समुदाय॥

पद

अब लौं नसानी अब न नसैहौं।
राम कृपा भव निसा सिरानी जागे फिरि न डसैहौं॥
पायउँ नाम चारु चिन्तामनि-उर कर ते न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं॥
परबस जानि हस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पन करि 'तुलसी' रघुपति पदकमल बसैहौं॥

कबहुँक हौं इहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें सन्त स्वभाव गहौंगो।
जथा लाभ सन्तोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम सीतल मन परगुन औगुन न कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिन्ता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसीदास प्रभु इहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो॥

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

तजेउ पिता प्रह्लाद बिभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तजेउ नाह ब्रज-बनितन्ह भय जग मंगलकारी॥
नातो नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटइ, बहुतक कहउँ कहाँ लौं॥
तुलसी सोइ आपनो सकल बिधि पूज्य प्रान तें प्यारो।
जासों होइ सनेह राम सों एतो मतो हमारो॥

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भगति सुरसरिता, आस करत ओस कन की॥
धूम समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न पानि पुनि, हानि होत लोचन की॥
ज्यों गच काँच बिलोक स्येन जड़, छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस छत बिसारि आनन की॥

पालने रघुपतिहि झुलावैं।
लै लै नाम सप्रेम सरस स्वर कौसल्या कल कीरति गावैं॥
केकि कंठ द्युति स्याम बरन बपु बाल बिभूषन रुचिर बनाए।
अलकैं कुटिल ललित लटकन भ्रू नील नलिन दोउ नयन सुहाए॥
सिसु सुभाय सोहत जब कर गहि बदन निकट पद पल्लव लाए।
मनहुँ सुभग जुग भुजग जलज भरि लेत सुधा ससि सों सचुपाए॥
उपर अनूप बिलोकि खेलौना किलकत पुनि पुनि पानि पसारत।
मनहुँ उभय अंभोज अरुन सों बिधु भय बिनय करत अति आरत॥
तुलसिदास बहु बास बिबस अलि गुंजत छबि नहिं जात बखानी।
मनहुँ सकल श्रुति ऋचा मधुप होइ बिसद सुजस बरनत बरबानी॥

हरि को ललित बदन निहारु।
निपट ही डाँटति निठुर ज्यों लकुट करते डारु॥
मंजु अंजन सहित जलकन चुवत लोचन चारु।
स्याम सरस मगन मनो ससि स्रवत सुधासिंगारु॥
सुभग उर दधि बुन्द सुन्दर लखि अपनपौ वारु।
मनहुँ मरकत मृदु सिखर पर लसत बिसद तुषारु॥
कान्ह हूँ पर सचर भौंहैं महरि मनहिं बिचारु।
'दास तुलसी' रहति क्यों रिस निरखि नन्द कुमारु॥

अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच बिमोचन को ठगि सी रही जे न ठगे धिक से॥
तुलसी मन रंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नव नील सरोरुह से बिकसे॥
तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुंदर सोहत धूरि भरे छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं॥
दमकैं दतियाँ दुति दामिन सी किलकैं कल बाल बिनोद करैं।
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मन मंदिर में बिहरैं॥
बर दंत की पंगति कुन्द कली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमके घन बीच जुगै छबि मोतिन माल अमोलन की॥
घुघुरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
नेवछावर प्रान करैं तुलसी बलिजाऊँ लला इन बोलन की॥

जिनकी पुनीत बारि धारे सिर पै पुरारि,
त्रिपथगामिनि जसु बेद कहैं गाई कै।

जिनको जोगींद्र मुनिवृंद देव देह भरि,
करत बिराग जप-जोग मन लाइ कै ॥
'तुलसी' जिनकी धूरि परसि अहल्या तरी,
गौतम सिधारे गृह गौनो-सा लिवाइकै ।
तेई पायँ पाइ कै चढ़ाइ नाव धोए बिनु,
ख्वैहौं न पठावनी कै ह्वैहौं न हँसाइ कै ॥
प्रभु रुख पाइ कै बोलाइ बाल घरनिहिं,
बंदी कै चरन चहूँ दिसि बैठे घेरि घेरि ।
छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गंगाजू को,
धोइ पायँ पीवत पुनीत बारि फेरि फेरि ॥
'तुलसी' सराहैं ताको भाग सानुराग सुर,
बरपैं सुमन जय जय कहैं टेरि टेरि ।
बिबुध-सनेह-सानी बानी असयानी सुनि,
हँसे राघौ जानकी लखन तन हेरि हेरि ॥

दोहा

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास ।
स्वाति सलिल रघुनाथ जस, चातक तुलसीदास ॥ १ ॥
ऊँची जाति पपीहरा, पियत न नीचो नीर ।
कै जाँचे घनस्याम सों, कै दुख सहै सरीर ॥ २ ॥
तुलसी संत सुअंब तरु, फूलि फलहिं पर हेत ।
इतते ये पाहन हनत, उतते वे फल देत ॥ ३ ॥

असन बसन सुत नारि सुख, पापिहुँ के घर होइ।
सन्त-समागम राम-धन, तुलसी दुर्लभ दोइ॥ ४॥
प्रेम वैर अरु पुन्य अघ, जस अपजस जयहान।
बात बीज इन सबन को, तुलसी कहहिं सुजान॥ ५॥
दुर्जन दर्पन सम सदा, करि देखौ हिय गौर।
सनमुख की गति और है, बिमुखभये पर और॥ ६॥
साहिब ते सेवक बडो, जो निज धर्म सुजान।
राम बाँधि उतरे उदधि, नाँघि गये हनुमान॥ ७॥
तुलसी पावस के समै, धरी कोकिला मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहै कौन॥ ८॥

अब्दुर्रहीम खानखाना

२—रहीम

जन्म-संवत्—१६१०] [मृत्यु संवत्—१६८२

अब्दुर्रहीम खानखाना बहराम खानखाना के पुत्र थे। वे अकबर के सेनापति और मन्त्री थे। उनकी उदारता के सम्बन्ध में अनेक कथायें प्रचलित हैं। वे हिन्दी कवियों का बड़ा आदर करते थे।

हिन्दी में रहीम के दोहे बड़े प्रसिद्ध हैं। उनमें नीति की शिक्षा दी गई है, पर यह शिक्षा शुष्क नहीं है। उनमें कवित्त-कला का यथेष्ट परिपाक हुआ है। सच पूछिये तो रहीम ने एक आचार्य की तरह लोगों को हृदय की, अपने अनुभव की सची बातें बतलायी हैं। उन्होंने मानो अपने जीवन-सागर का मथन कर अनुभूति द्वारा जो अमृत प्राप्त किया, उसे ही अपनी कविता-द्वारा संसार को दे डाला है। उनकी रचनाओं में कहीं उल्लास है, कहीं गूढ़ व्यथा है, कहीं गर्व है, कहीं तिरस्कार है कहीं निराशा है, कहीं आक्षेप है और कहीं उपहास है तथा कहीं भक्ति भी है। उनमें सत्य जीवन के रस से युक्त होकर झलक रहा है।

भाषा तथा शैली

रहीम ने अवधी और ब्रजभाषा दोनों में कविता की है। दोनों पर इनका समान अधिकार है, इनकी भाषा में प्रौढ़ता, ओज तथा सरसता है। इनकी कविता शैली दोहे की अधिक प्रसिद्ध है, पर इन्होंने बरवै, सोरठा, कवित्त, सवैया शैली में भी रचनाएँ की है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ—

१—दोहावाली २—बरवै नायिका-भेद

३—शृंगार-सोरठ ४—मदनाष्टक

रहीम-रसना

अच्युत चरणतरंगिणी, शिवसिर मालति माल।
हरि न बनायो सुरसरी, कीजो इन्दव भाल ॥ १ ॥
खैंचि चढ़नि ढीली ढरनि, कहु कौन यह प्रीति।
आज काल मोहन गही, बस दिया की रीति ॥ २ ॥
अनुचित उचित 'रहीम' लघु, करहिं बड़ेन के जोर।
ज्यों ससि क संयोग ते, पचवत आगि चकोर ॥ ३ ॥
उरग, तुरँग, नारी, नृपति, नीच जाति, हथियार।
'रहिमन' इन्हें सँभारिए, पलटत लगै न बार ॥ ४ ॥
ये 'रहीम' दर दर फिरहिं, माँगि मधुकरी खाहिं।
यारो यारी छाड़िए, वे रहीम अब नाहिं ॥ ५ ॥
कदली, सीप, भुजग मुख, स्वाति एक गुन तीन।
जैसी संगति बैठिए, तैसोई फल दीन ॥ ६ ॥
कहि 'रहीम' इक दीपतें, प्रगट सबै दुति होय।
तन सनेह कैसे दुरै, दृग दीपक जरु दोय ॥ ७ ॥
कहु 'रहीम' केतिक रही, कतिक गई बिहाय।
माया ममता मोह परि, अंत चले पछिताय ॥ ८ ॥
खैर खून, खाँसी, खुसी, बैर, प्रीति, मदपान।
रहिमन' दाबे ना दबैं, जानत सकल जहान ॥ ९ ॥
गरज आपनी आप सों, रहिमन कही न जाय।
जैसे कुल की कुलबधू पर घर जात लजाय ॥ १० ॥

चारा प्यारा जगत में, छाला हितकर लेय।
ज्यों 'रहीम' आटा लगे, त्यों मृदंग स्वर देय ॥ ११ ॥
जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं, यह 'रहीम' जग जोय।
मड़ए तर की गाँठ में, गाँठ गाँठ रस होय ॥ १२ ॥
जाल परे जल जात बहि, तजि मीनन को मोह।
'रहिमन' मछरी नीर को, तऊ न छाड़त छोह ॥ १३ ॥
धूर धरत निज सीस पै, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि पत्नी तरी, सो ढूँढ़त गजराज ॥ १४ ॥
जो पुरुषारथ ते कहूँ, सम्पति मिलत 'रहीम'।
पेट लागि बैराट घर, तपत रसोई भीम ॥ १५ ॥
जो 'रहीम' उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग ॥ १६ ॥
जो 'रहीम' करिबो हुतो, ब्रज को इहै हवाल।
तौ काहे कर पर धर्‌यो, गोबर्धन गोपाल ॥ १७ ॥
जो 'रहीम' गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजिआरो लगे, बढ़े अँधेरो होय ॥ १८ ॥
जो 'रहीम' गति दीप की, सुत सपूत की सोय।
बड़ो उजेरो तेहि रहे, गए अँधेरो होय ॥ १९ ॥
जो रहीम' दीपक दसा, तिय राखत पट-ओट।
समय परे ते होत है, वाही पट की चोट ॥ २० ॥
जो विषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत वमन कर, स्वान स्वाद से खात ॥ २१ ॥

टूटे सुजन मनाइये, जौ टूटे सौ बार।
'रहिमन' फिरि फिरि पोहिए, टूटे मुक्ताहार ॥ २२ ॥

धन थोरो इज्जत बडी, कहि 'रहीम' का बात।
जैसे कुल की कुलबधू, चिथड़न माँह समात ॥ २३ ॥

नात नेह दूरी भली, जो 'रहीम' जिय जानि।
निकट निरादर होत है, ज्यों गड़हो को पानि ॥ २४ ॥

पावस देखि 'रहीम' मन, कोइल साधे मौन।
अब दादुर वक्ता भए, हमकौं पूछत कौन ॥ २५ ॥

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, पथिक आपु फिरि जाय ॥ २६ ॥

भलो भयो घरते छुट्यो, हँस्यो सीसपरि खेत।
काके काके नवत हम, अधम पेट के हेत ॥ २७ ॥

माँगे घटत 'रहीम' पद, कितो करो बढ़ि काम।
तीन पगै बसुधा करी, तऊ बावनै नाम ॥ २८ ॥

मुकता कर, करपूर कर, चातक जीवन जोय।
येतो बडो 'रहीम' जल, ब्याल बदन विष होय ॥ २९ ॥

यह न 'रहीम' सराहिए, लेन देन की प्रीत।
प्रानन बाजी राखिए, हारि होय कै जीत ॥ ३० ॥

यह 'रहीम' निज सग लै, जनमत जगत न कोय।
बैर, प्रीत, अभ्यास, जस, होत होत ही होय ॥ ३१ ॥

रन, बन, ब्याधि, बिपत्ति में, 'रहिमन' मरे न रोय।
जो रच्छक जननी जठर, सो हरि गए कि सोय ॥ ३२ ॥

'रहिमन' अपने पेट सों, बहुत कह्यो समुझाय।
जो तू अनखाए रहे, तोसों को अनखाय॥ ३३॥
'रहिमन' कठिन चितान ते, चिंता को चित लेत।
चिता दहति निर्जीव को, चिंता जीव समेत॥ ३४॥
मन से कहाँ रहीम प्रभु, दृग सों कहाँ दिवान।
देखि दृगन जो आदरै, मन तेहि हाथ बिकान॥ ३५॥
रहिमन कबहुँ बड़ेन के, नाहिं गर्व को लेस।
भार धरैं संसार को, तऊ कहावत सेस॥ ३६॥
हरि रहीम ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूर।
खैंचि आपनी ओर को, डारि दियो पुनि दूर॥ ३७॥

बिहारीलाल

४—बिहारीलाल

जन्म-संवत्—१६६०　　　　　　　　　　　　　　मृत्यु-संवत्—१७२०

बिहारी का जन्म स्थान ग्वालियर के समीप बसुआ गोविन्दपुर नामक ग्राम माना जाता है। जयपुर के महाराज जयसिंह के आश्रय में उन्होंने अपना जीवन यापन किया। उनकी राज सभा में बिहारी का बड़ा आदर था।

बिहारीलाल जी का जीवन काल राज सभा में व्यतीत हुआ था। उन्हें राज-सभा का पूरा अनुभव था। उन्होंने अपने अनुभव को अपनी कविताओं में प्रकट भी किया है। यदि उन्होंने श्रीमानों के वैभव और उनकी उदारता आदि गुणों की प्रशंसा की है तो उन्होंने उनकी विलास प्रियता और दाम्भिकता आदि दुर्गुणों की निन्दा भी की है। उनके विषय में यह कथा प्रसिद्ध है कि जब राजा जयसिंह विलास में पड़कर अपने कर्त्तव्य से पराङ्मुख हो गये थे, तब उन्होंने एक पद्य द्वारा उनको चेतावनी दी थी।

बिहारी रस सिद्ध कवीश्वर माने गये हैं। साहित्य शास्त्र में रस कवित्व की आत्मा है। भाषा और छन्द उसके अवयव हैं और अलङ्कार उसके भूषण। बिहारी ने क्या बाह्यजगत और क्या अन्तर्जगत, सर्वत्र एक सौन्दर्य का अनुभव किया है। यही कारण है कि उनकी कला में कृत्रिमता का अभाव है। उनमें उक्ति वैचित्र्य है, भाव की सूक्ष्मता है और सौन्दर्य का विशद चित्रण है

भक्त कवि और शृंगार-रस के आचार्य दोनों ने अपनी रचनाओं में

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परे, स्याम हरित दुति होय ॥

सीस मुकुट, कटि, काछनी, कर मुरली, उर माल।
इहि बानिक मो मन बसौ, सदा, बिहारीलाल ॥

मकरा कृति गोपाल कैं, सोहत कुंडल कान।
धरयौ मनौ हिय धर समरु, ड्योढ़ी लसत निसान ॥

तौ लगि या मन सदन में, हरि आवैं केहि बाट।
बिकट जटे जौ लौं निपट, खुलैं न कपट कपाट ॥

कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जग नाइक जग बाइ ॥

दियौ सुसीस चढ़ाइ लै, आछी भाँति अएरि।
जापैं सुखु चाहतु लियौ, ताके दुखहिं न फेरि ॥

को कहि सकै बड़ेन सों, करत बड़ी यै भूल।
दीनें दई गुलाब की, इन डारन वे फूल ॥

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कटीली डार ॥

इहि आसा अटक्यौ रहै, अलि गुलाब के मूल।
ऐहैं बहुरि बसत ऋतु, इन डारन वे फूल ॥

श्रीकृष्ण को ही आदर्श माना है। पर दोनों की अनुभूतियों में जो भेद है—वह स्पष्ट है। भक्त कवियों के प्रेम में सर्वस्व समर्पण का भाव है और शृंगार रस के कवियों में कामना का आवेग। भक्त कवियों की रचना में प्रेम की तन्मयता है और शृङ्गार रस के कवियों में प्रेम की विमुग्धावस्था है।

भाषा तथा शैली

बिहारी की रचना व्रज भाषा में है। पर बुन्देल खण्डी और उर्दू फारसी के भी शब्द व्यवहार में लाये हैं। इन्होंने भी शब्दों का तोड़मरोड़ किया है। इनकी काव्य शैली दोहों की है। दोहे में रचना करना और सफल होना साधारण बात नहीं है। क्योंकि इस छुद में भावों को अत्यत सक्षिप्त और सशक्त भाषा में रखना पड़ता है। ऐसे छोटे छुद में कवि ने गागर में सागर भर दिया है। दोहे रस से लबालब भरे हैं। अलकारों की आभा से जगमगा उठा है। किसी किसी दोहे को कवि ने कई अलकारों से बड़ी खूबी से अलकृत कर दिया है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ—

१—बिहारी सतसई

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँईं परे, स्याम हरित दुति होय॥

सीस मुकुट, कटि, काछनी, कर मुरली, उर माल।
इहि बानिक मो मन बसौ, सदा, बिहारीलाल॥

मकरा कृति गोपाल कैं, सोहत कुंडल कान।
धरयौ मनौ हिय घर समरु, ड्योढी लसत निसान॥

तौ लगि या मन सदन में, हरि आवैं केहि बाट।
बिकट जटे जौ लौं निपट, खुलै न कपट कपाट॥

कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जग नाइक जग बाइ॥

दियौ सुसीस चढाइ लै, आछी भाँति अएरि।
जापैं सुखु चाहतु लियौ, ताके दुखहिं न फेरि॥

को कहि सकै बड़ेन सों, करत बड़ी यै भूल।
दीने दई गुलाब की, इन डारन वे फूल॥

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कटीली डार॥

इहि आसा अटक्यौ रहै, अलि गुलाब के मूल।
ऐहैं बहुरि बसत ऋतु, इन डारन वे फूल॥

कर लै सूँघि सराहि कै सबै रहे गहि मौन।
गन्धी गन्ध गुलाब को, गवँई गाहक कौन॥

करि फुलेल को आचमन, मीठा कहत सराहि।
रे गन्धी, मति अन्ध तू, अतर दिखावत काहि॥

कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वहि खाये बौराय जग, यहि पाये बौराय॥

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईं मत भूल।
दइ दई क्यों करत है, दई दई सु कबूल॥

नीच हिये हुलस्यो रहत, गहे गेंद को पोत।
ज्यों ज्यों माथे मारियत, त्यों त्यों ऊँचो होत॥

कहत सबै स्रुति सुमृतिहू, सबै सयाने लोग।
तीन दबावत निसँकहीं, पातक, राजा, रोग॥

बुरो बुराई जौ तजै, तौ चितु खरो डरातु।
ज्यों निकलंक मयंक लखि, गनैं लोग उतपातु॥

घर घर डोलत दीन ह्वै, जन जन जाचत जाय।
दिए लोभ चसमा चखनु, लघु तिहि बड़ो लखाय॥

बड़े न हूजै गुननि बिनु, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सो कनकु गहनो गढ़यौ न जाय॥

कोटि जतन कोऊ करे, परै न प्रकृतिहि बीच।
नल बल जल ऊँचो चढ़ै, अन्त नीच को नीच॥

कबौं न ओछे नरन सौं, सरत बड़न के काम।
मढ़ौ दमामा जात कहुँ, लै चूहे के चाम॥

सोहत ओढ़े पीत पट्ट, स्याम सलोने गात।
मनो नीलमनि सैल पर, आतप पर्‌यो प्रभात॥

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेतो जितै, तित तेती रुचि होय॥

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति बिदारन-हार॥

जाके एकाएक हूँ जग ब्यौसाइ न कोइ।
सो निदाघ फूलै फरै आकु डहडहौ होइ॥

मीत न नीति, गलीत यह, जो धरिए धन जोरि।
खाए-खरचे जो जुरै, तौ जोरिए करोरि॥

चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गभीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि, सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितो, भरिये जितो सनेह॥

प्यासे दुपहर जेठ के, थके सबै जल सोधि।
मरुधर पाय मतीरहू मारू कहत पयोधि॥

विषम वृषादित की तृषा, जियत मतीरनि सोध।
अमित अगाध अपार जल, मारो मूढ़ पयोधि॥

अति अगाध अति ओथरो, नदी, कूप, सर, वाय।
सो ताको सागर जहाँ; जाकी प्यास बुझाय॥

सगत सुमति न पावई, परे कुमति के धध।
राखो मेलि कपूर में, हींग न होय सुगध॥

नर की अरु नल नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होइ॥

दिन दस आदर पाइकै, करि लै आपु बखान।
जौ लगि काग सराध पखु, तौ लगि तौ सनमान॥

मन मोहन सौं मोहु करि, तू घनस्याम निहारि।
कुंज बिहारी सौं बिहरि, गिरधारी उर धारि॥

जपमाला, छापा, तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काचे नाचे वृथा, साँचे राचे राम॥

हरि कीजति बिनती यहै, तुम सौं बार हजार।
जिहि तिहि भाँति डर्‍यौ रह्यो, पर्‍यौ रहौं दरबार॥

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहि कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रग, त्यौं, त्यौ उज्जलु होइ॥

मरतु प्यास पिजरा पर्‍यौ, सुगा समै के फेरि।
आदर दै दै बोलियतु, बायसु बलि की बेर॥

लोपे कोपे इद्र लौं, रोपै प्रलय अकाल।
गिरधारी राखे सबै, गो, गोपी, गोपाल॥

चितु दै देखि चकोर त्यौं, तीजैं भजै न भूख।
चिनगी चुगै अंगार की, चुगै की चद-मयूख॥

जगत जनायौ जेहि सकल, सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आँखिन सब देखिए, आँखि न देखी जाहिं॥

यह बिरियाँ नहिं और की तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाय जिन, कीन्हें पार पयोधि॥

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
मनो तज्यौ तारन-बिरद, बारक, बारन तारि॥

कीजै चित्त सोई तिरौं, जिहि पतितन के साथ।
मेरे गुन औगुन गननि, गिनौ न गोपी नाथ॥

मोहि तुम्हें बाढ़ो बहस, को जीतै जदुराज।
अपने अपने बिरद की, दुहुन निबाहन लाज॥

करौ कुबत जग कुटिलता, तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल चित, बसत त्रिभंगी लाल॥

मोहूँ दीजै मोष, जो अनेक पतितनि दियो।
जो बाँधे ही तोष, तौ बाँधौ अपने गुननि॥

तौ बलियै भलियै बनी, नागर नंद किसोर।
जौ तुम नीके कैं लखौ, मो करनी की ओर॥

जात-जात बित होत है, ज्यौं जिय में संतोषु।
होत होत जौ होई तौ, होइ घरी में मोषु॥

५—भूषण

जन्म-संवत् १६७० मृत्यु संवत् १७७२

भूषण का जन्म स्थान कानपुर जिले का तिकवाँपुर नामक ग्राम है। मतिराम और चिन्तामणि भूषण के भाई थे। ये तीनों हिन्दी के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। चित्रकूट नरेश ने उन्हें 'कवि-भूषण' की उपाधि दी थी। छत्रपति महाराज शिवा जी और महाराज छत्रसाल दोनों ने उनका बड़ा आदर किया।

भूषण हिन्दी के एकमात्र जातीय कवि माने जाते हैं। उनके काल में अन्य कवि शृङ्गार-रस में ही डूबे हुए थे। उनकी रचनाओं में चित्रकला की ही प्रधानता है इसलिए हम उनमें उक्ति-वैचित्र्य और अलंकारों का चमत्कार ही विशेष रूप से पाते हैं। उक्ति-वैचित्र्य और अलंकारों के चमत्कार में भूषण की गणना हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में की जाती है; उनकी कविता में मानसिक क्षोभ है, क्रोध है, उपहास है, तीक्ष्ण व्यङ्ग्य है किन्तु वीर रस का वह भैरव-नाद नहीं, जिसके कारण जाति में स्वाधीनता की एक लहरी उत्थित होकर विप्लव मचा देती है, इसीलिए भूषण की गणना रीति काल के उन कवियों में की जानी चाहिए; जिन्होंने साहित्य-कला में ही अपनी सारी शक्ति लगा दी।

उन्होंने अपने आश्रय-दाताओं की जो प्रशंसा की है, उससे उनका जातीय दर्प प्रकट होता है। छत्रसाल और शिवा जी दोनों हिन्दू-जाति के उन्नायक थे। दोनों ने हिन्दू-जाति की मर्यादा की रक्षा की थी। दोनों स्वाधीनता के प्रेमी थे, इसीलिए भूषण ने उनका यशोगान किया।

भाषा तथा शैली

भूषण वीर रस के कवि हैं, इसीलिए उनकी कविता मे यथेष्ट ओज है। उनकी कविता की भाषा ब्रज भाषा ही है—जिसमें स्वाभाविक माधुर्य्य होने के कारण वह गुण नहीं है, जो उसे वीर रस के उपयुक्त बना सके। इसीलिए भूषण ने अपनी कविता में शब्दों को यथेष्ट विकृत रूप दे दिया है और अरबी, फारसी के शब्दों का भी समावेश किया है। इसी कारण उनकी भाषा कहीं कहीं दुरूह हो गई है। अलंकार विवेचन में हिन्दी साहित्य में इनका विशेष स्थान है। वे रीति युग के कवि होते हुए भी इन्होंने अलंकारों का उदाहरण वीर रस के छन्दों में ही दिया है। इनकी शैली कवित्त और सवैये की है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ

१—शिवराजभूषण २—शिवाबावनी

३—छत्रशालदशक

शिवाजी-स्तवन

(१)

विकट अपार भव पन्थ चले को श्रम
हरन करन बिजना से ब्रह्म ध्याइए।
यहि लोक परलोक सुफल करन कोक—
नद से चरन हिए आनि कै जुड़ाइए।
अलि कुल कलित कपोल ध्यान ललित
अनन्द रूप सरित मैं भूषण अन्हाइए।
पाप तरु भञ्जन विघन गढ़ गञ्जन
भगत मन रञ्जन द्विरदमुख गाइए।

(२)

एते हाथी दीन्हे माल मकरन्द जू के नन्द
जेते गनि सकति विरंचि हू की न तिया।
भूषन भनत जाकी साहिबी सभा के देखे
लागैं छितिपाल सब और छिति मैं छिया।
साहस अपार हिन्दुवान को अधार धीर
सकल सिसोदिया सपूत कुल को दिया।
जाहिर जहान भयो साहि जू खुमान बीर
साहिन को सरन सिपाहिन को तकिया।

(३)

इन्द्र जिमि जंभपर बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभपर रघुकुलराज है।

पौन बारिवाह पर, सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहसबाहु पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुम दण्ड पर, चीता मृग झुंड पर,
'भूषन' बितुंड पर जैसे मृग राज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है।

(४)

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खड़ो कियो छ हजारिन के नियरे।
जानि गैरमिसिल, गुसीला गुसा धारि उर,
कीन्हों न सलाम न बचन बोले सियरे॥
'भूषन' भनत महावीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे।
तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि भये,
स्याह-मुख नौरंग, सिपाह मुख पियरे॥

(५)

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति, चितै चाह करखति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है॥

थरथर कांपत कुतुबसाहि गोलकुंडा,
हहरि हवस भूप भीर भरकति है।
राजा सिवराजके नगारनकी धाक सुनि,
केते पातसाहन की छाती दरकति हैं॥

(६)

पूरबके, उत्तरके, प्रबल पछाँहहू के,
सब बादसाहन के गढ़ कोट हरते।
'भूखन' कहै यो अवरंगसों बजीर, जीति
लेबेको पुरतगाल सागर उतरते॥
सरजा सिवा पर पठावत मुहीम काज,
हजरत, हम मरबे को नाहीं डरते।
चाकर है, उजुर कियौ न जाय नेक पै,
कछू दिन उबरते तौ घने काज करते॥

(७)

जोर करि जैहैं अब अपर-नरेश पर,
तोरि अरि खंडखंड सुभट समाज पै।
'भूखन' आसाम रूप बलख बुखारे जैहैं,
जैहैं साम, चीन तरि जलधि जहाज-पै॥
सब उमरावन की हठ कूरताई देखो,
कहैं नवरगजेब साहि सिरताज-पै।

भीख माँग खैहैं, बिन मनसब रैहैं, पै न,
जैहैं, हजरत, महाबली सिवराज पै ॥

(८)

दाराकी न दौरि यह, रारि नहिं खजुवेकी,
बाँधिबो नहीं है मुरादिशाह बालको।
मठ बिस्वनाथको न बास ग्राम गोकुलको,
देविको न देहरा न मंदिर गोपालको ॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें, अरु बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर-ठौर हासिल उगाहत है सालको।
बूड़ति है दिल्ली सो सम्हारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकालको॥

(९)

राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी में ॥
राखी राजपूती रजधानी राखी राजन की
धरा में धरम राख्यो, राख्यो गुन गुनी में ।।
'भूषन सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की
देस देस कीरति बखानी तव सुनी में ॥
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी
दिल्ली दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी में ॥

(१०)

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर मे।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की
कांध में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में।
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे बादशाह
बैरी पीस राखे बरदान राख्यो कर मे।
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में।

(११)

दरबर दौर करि नगर उजारि डारि,
कटक कटायो कोटि दुजन दरब की।
जाहिर जहान जग जालिम है जोरावर,
चलै न कछुक अब एक राजा रावकी।
सिवराज तेरे त्रास दिल्ली भयो भुवकंप,
थर थर कांपति बिलाइति अरब की।
हालत दहिल जात काबुल कंधार वीर,
रोस करि काढे समसेर ज्यों गरब की॥

(१२)

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढि
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत हैं।

भूषन भनत नाद बिहद नगारन के
नदी नद मद गैबरन के रलत हैं।
एक फैल खैल भैल खलक में गैल गैल
गजन की ठेल पैल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत जिमि।
थारा पर पारा पारा वार यों हलत है।

(१३)

प्रेतिनी पिसाचरु निसाचर निसाचरिहू,
मिलि मिलि आपस में गावत बधाई है।
भैरों भूत प्रेत भूरि भूधर भयंकर से,
जुत्थ जुत्थ जोगिनी जमाति जुर आई है॥
किलकि किलकि कै कुतूहल करत काली,
डिम डिम डमरू दिगम्बर बजाई है।
सिवा पूछैं सिव सों समाजु आजु कहाँ चली
काहू पै सिवा नरेश भृकुटी चढ़ाई है।

छत्रसाल-पराक्रम

(१४)

निकसत म्यान तें मयूखैं प्रलै भानु कैसी,
फारैं तम-तोम-से गयंदन के जाल को।
लागति लपकि कंठ बैरिन के नागिन-सी,
रुद्रहिं रिझावै दै दै मुंडन की माल को॥

लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहाँ लौं बखान करूं तेरी करवाल को।
प्रतिभट-कटक कटाले केते काटि,
कालिका सी किलक कलेऊ देति काल को॥

(१५)

चले चन्दवान घनबान औ कहूकबान,
चली हैं कमानें धूम आसमान ह्वै रह्यो।
चली जमदाढ़ैं बाढ़वारैं तरवारैं जहाँ,
लोह आँच जेठ के तरनि मानो ज्वै रह्यो॥
ऐसे समै फौजें बिचलाई छत्रसाल सिंह,
अरि के चलाये पायँ बीर रस च्वै रह्यो।
हय चले हाथी चले संग छाड़ि साथी चले,
ऐसी चलाचली में अचल हाड़ा ह्वै रह्यो॥

६—नरोत्तमदास

[वि० सं० १६०२]

ये जिला सीतापुर के बाड़ी नामक गाँव के रहने वाले थे। इनका जन्म कान्य कुब्ज ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके जन्म समय का ठीक ठीक पता नहीं चलता। शिव सिंह सरोज के अनुसार इनका वि० सं० १६०२ में होना माना जाता है। ये व्रजभाषा के अच्छे कवि थे। इन्होंने सुदामाचरित्र की रचना की है। इसमें सुदामा जैसे दरिद्र ब्राह्मण का आत्माभिमान और श्रीकृष्ण जैसे ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति की सन्मैत्री का चित्र भारतीय गौरव की एक झाँकी है।

भाषा तथा शैली

इनकी भाषा व्रजभाषा है। भाषा में सर्वत्र सरलता, सुबोधता, माधुर्य और लालित्य है। भाषा व्याकरण सयुत, वर्ण मैत्री, शब्द मैत्री का सर्वत्र निर्वाह है। शैली दोहा, कवित, सवैया छन्दों की है और नाटकीय ढँग पर कथोपकथन में सरस माधुर्य और कारुण्य पूर्ण है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ—

१—सुदामा-चरित्त

सुदामा-चरित

दोहा—विप्र सुदामा बसत हो, सदा आपने धाम।
भिच्छा करि भोजन करै, हिये जपै हरिनाम ॥ १ ॥
कही सुदामा एक दिन, कृस्न हमारे मित्र।
करत रहति उपदेस तिय, ऐसो परम-विचित्र ॥ २ ॥

स्त्री—महादानि जिनके हित, जदु-कुल-कैरव-चंद।
ते दारिद-सताप तें, रहैं न किमि निरद्वंद ॥ ३ ॥
कही सुदामा बाम! सुनु, वृथा और सब भोग।
सत्य-भजन भगवान को, धर्म-सहित जप जोग ॥ ४ ॥

स्त्री—लोचन-कमल दुख-मोचन तिलक भाल,
स्रवननि कुंडल मुकुट धरे माथ हैं।
ओढ़े पीत बसन गरे मों वैजयंती माल,
संख चक्र गदा और पद्म लिए हाथ हैं॥
कहत नरोतम संदीपन गुरू के पास,
तुम ही कहत हम पढ़े एक साथ हैं।
द्वारिका के गये हरि दारिद हरैंगे पिय,
द्वारिका के नाथ वे अनाथन के नाथ हैं ॥ ५ ॥

सुदामा—सिच्छक हौं सिगरे जग को तिय!
ताको कहा अब देति है सिच्छा।
जे तप के परलोक सुधारत
संपति की तिनके नहीं इच्छा॥

मेरे हिये हरि के पद पंकज
बार हजारु लै देखु परिच्छा।
औरन को धन चाहिये बावरि,
बाँमन को धन केवल भिच्छा॥ ६॥

स्त्री—दानी बड़े तिहुँ लोकन में
जग जीवत नाम सदा जिनको लै।
दीनन की सुधि लेत भली विधि,
सिद्धि करौ पिय मेरो मतो लै॥
दीनदयाल के द्वार न जात सो,
और के द्वार पै दीन ह्वै बोलै।
श्री जदुनाथ से जाके हितू,
सो तिहूँ पन क्यों कन माँगत डोलै॥ ७॥

सुदामा—छत्रिन के पन जुद्ध जुवा,
दल साजि चढ़ैं गज बाजिनहीं।
बैस को बानिज और कृषी,
पन सूद्र को सेवन साजनहीं॥
विप्रन को पन है जु यही,
सुख संपति सों कछु काज नहीं।
कै पढ़िवो कै तपोधन है,
कन माँगत बाँमनै लाज नहीं॥ ८॥

स्त्री— कोदो सवाँ जुरतो भरि पेट,
न चाहति हौं दधि दूध मिठौवी।

सीत बितीवत कौं सिसियात,
तो हौं हठती पै तुम्हैं न हठौती ॥
जौ जनती न हितू हरि सों,
तौ मैं काहे को द्वारिका ठेलि पठौती।
या घर तें न गयो कबहूँ पिय!
टूटो तवा अरु फूटी कठौती ॥ ९ ॥

सुदामा—छाँड़ि सबै जक तोहि लगी बक,
आठहु जाम यहै मन ठानी।
जातहि दैहैं लदाय लढा,
भरि लैहौं लदाय यहै जिय जानी ॥
पैये कहाँ ते अटारी अटा,
जिनको बिधि दीन्ही है टूटी सी छानी।
जौ पै दरिद्र लिखो है ललाट,
तो काहू पै मेटि न जात अजानी ॥ १० ॥

स्त्री—पूरन पैज करी पहलाद की,
खंभ सों बाध्यो पिता जिहि बेरे।
द्रौपदी ध्यान धरो जबहीं,
तबहीं पट कोट लगे चहुँ फेरे ॥
ग्राह तें छूटि गजेंद्र गयो,
पिय! है हरिको निहचै जिय मेरे।
ऐसे दरिद्र हजार हरैं,
वे कृपानिधि लोचन कोर के हेरे ॥ ११ ॥

सुदामा—चक्कवै चौंकि रहे चकि-से,
तहाँ भूल से भूप अनेक गनाऊँ।
देव गँधर्व औ किन्नर जच्छ से,
साँझ लौं ठाढ़े रहैं जिहि ठाऊँ॥
तैं दरबार विलोक्यो नहीं,
अब तोहि कहा कहि कै समुझाऊँ।
रोकिए लोकन के मुखिया,
तहँ हौं दुखिया किमि पैठन पाऊँ॥ १२॥

स्त्री—भूले-से भूप अनेक खरे रहे,
ठाढ़े थके तिमि चक्कवै भारी।
देव गँधर्व औ किन्नर जच्छ से,
रोके जे लोकन के अधिकारी॥
अन्तरयामी वै आपुही जानि हैं,
मानौं यही सिख आजु हमारी।
द्वारिकानाथ कै द्वारे गये,
सबतें पहिले सुधि लैहैं तुम्हारी॥ १३॥

सुदामा—दीनदयाल को ऐसोइ द्वार है,
दीनन की सुधि लेत सदाई।
द्रौपदी तें गज तें, पहलाद तें,
जानि परी न बिलंब लगाई॥
याही तें भावत मो मन दीनता,
जो, निबहै निबही जस आई।

जौ ब्रजराजसों प्रीति नहीं,
केहि काज सुरेसहु की ठकुराई ॥ १४ ॥

स्त्री—फाटे-पट टूटी-छानि खायो भीख माँगि आनि,
बिना जग्य बिमुख रहत देव पित्रई।
वैहैं दीनबंधु दुखी देखिकै दयालु ह्वैहैं,
देहैं कछु भलो सो हौं जानत अगत्रई ॥
द्वारिका लौं जात पिय! केतौ अलसात तुम
काहे को लजात भई कौन सी विचित्रई।
जो पै सब जनम दरिद्रही सतायो तो पै,
कौने काज आइहै कृपानिधि की मित्रई ॥ १५ ॥

सुदामा—तैं तो कही नीकी सुनि बात हित ही की,
यही रीति मित्र की नित प्रीति सरसाइए।
मित्र के मिले ते चित्त चाहिये परसपर,
मित्र के जो जेंइए तो आपहु जेंवाइए ॥
वे हैं महाराज जोरि बैठत समाज भूप,
तहाँ यहि रूप जाइ कहा सकुचाइए।
सुख दुख करि दिन काटे ही बनैंगे,
भूलि विपति परे पै द्वार मित्र के न जाइए ॥ १६ ॥

स्त्री—विप्र के भगत हरि जगत विदित बंधु,
लेते सब ही की सुधि ऐसे महादानि हैं।
पढ़े एक चटसार कही तुम कैयो बार,
लोचन अपार वै तुम्हैं न पहिचानि हैं ॥

एक दीनबंधु, कृपासिंधु, फेरि गुरुबंधु,
तुम सम कौन दीन जाको जिय जानि हैं।
नाम लेत चौगुनी, गए तें द्वार सौगुनी सो,
देखत सहसगुनी प्रीति प्रभु मानि हैं ॥१७॥

सुदामा—प्रीति में चूक न है उनके,
हरि मो मिलिहैं उठि कंठ लगाय कै।
द्वार गये कछु दै हैं भलो हमैं,
द्वारिकानाथ जू हैं सब लायकै ॥
या विधि बीति गए पन द्वै,
अब तो पहुँचो बिरधापन आयकै।
जीवन केतो है जाके लिये,
हरि सों अब होहुँ कनावड़ौ जायकै ॥१८॥

स्त्री—हूजै कनावड़ो बार हजार लौं,
जौ हितू दीनदयाल सों पाइये।
तीनहु लोक के ठाकुर हैं,
तिनके दरबार न जात लजाइए ॥
मेरी कही जिय में धरिकै पिय!
और न भूल प्रसंग चलाइए।
और के द्वार सो काज कहा,
पिया! द्वारकानाथ के द्वारे सिधाइए ॥१९॥

सुदामा—द्वारिका जाहु जू द्वारिका जाहु जू,
आठहु जाम यहै जक तेरे।

पूछे बिन कोऊ कहूँ काहू सो न करै बात,
देवता से बैठे सब साधि साधि मौन हैं॥
देखत सुदामै धाय पौरजन गहे पाय,
"कृपा करि कहौ विप्र कहाँ कीन्हों गौन हैं॥
'धीरज अधीर के, हरन पर पीर के,
बताओ बलबीर के महल यहाँ कौन हैं'' ॥ २७ ॥

दीन जानि काहू पुरुष, कर गहि लीन्हो आय।
दीनहि द्वार खरो कियो, दीनदयाल के जाय ॥ २८ ॥

द्वारपाल द्विज जानिकै, कीन्हों दृढ़ प्रनाम।
"विप्र! कृपा करि भाखिये, सकुल आपनो नाम" ॥ २९ ॥

सुदामा—नाम सुदामा कृस्न हम पढ़े एक ही हाथ।
कुल पाँड़े, ब्रजराज सुनि, सकल जानि हैं गाथ ॥ ३० ॥

द्वारपाल चलि तहँ गयो, जहाँ कृस्न जदुराय।
हाथ जोरि ठाढ़ो भयो, बोल्यो सीस नवाय ॥ ३१ ॥

द्वारपाल—
सीस पगा न झगा तन में, प्रभु! जानै को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी, अरु पाँय उपानह की नहिं सामा॥
द्वार खरो द्विज दुर्बल देखि, रहो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा ॥३२॥

बोल्यो द्वारपालक 'सुदामा नाम पाँड़े' सुनि,
छाँड़े राज काज ऐसे जी की गति जानै को?

जो न कह्यो करिये तो बड़ो दुख,
जैये कहाँ अपनी गति हेरे॥
द्वार खरे प्रभु के छरिया,
तहँ भूपति जान न पावत नेरे।
पाँच सुपारी तैं देखु विचारि कै,
भेंट कौ चारि न चाउर मेरे॥ २०॥

यह सुनि कै तब बाभनी, गई परोसिनि पास।
पाव सेर चाउर लिए, आई सहित हुलास॥ २१॥

सिद्धि करी गनपति सुमिरि, बाँधि दुपटिया-खूँट।
माँगत खात चले तहाँ, मारग वाली बूट॥ २२॥

तीन दिवस चलि बिप्र के, दूखि उठे जब पाँय।
एक ठौर सोए कहूँ, घास-पयार बिछाय॥ २३॥

अंतरजामी आपु हरि, जानि भगत की पीर।
सोवत लै ठाढ़ो कियो, नदी गोमती तीर॥ २४॥

प्रात गोमती दरस तें, अति प्रसन्न भो चित्त।
बिप्र तहाँ असनान करि, कीन्हों नित्त निमित्त॥ २५॥

भाल तिलक घसिकै दियो, गही सुमिरिनी हाथ।
देखि दिव्य द्वाराबती, भयो अनाथ सनाथ॥ २६॥

दीठि चकचौंधि गई देखत सुबर्नमई,
एक तें सरस एक द्वारिका के भौन हैं।

पूछे बिन कोऊ कहूँ काहू सों न करै बात,
देवता से बैठे सब साधि-साधि मौन हैं ॥
देखत सुदामै धाय पौरजन गहे पाय,
"कृपा करि कहौ विप्र कहाँ कीन्हो गौन है ॥
"धीरज अधीर के, हरन पर-पीर के,
बताओ बलबीर के महल यहाँ कौन हैं" ॥ २७ ॥

दीन जानि काहू पुरुष, कर गहि लीन्हों आय।
दीनहि द्वार खरो कियो, दीनदयाल के जाय ॥ २८ ॥

द्वारपाल द्विज जानिकै, कीन्हों दंड प्रनाम।
"विप्र! कृपा करि भाखिये, सकुल आपनो नाम" ॥ २९ ॥

सुदामा—नाम सुदामा कृस्न हम, पढ़े एक ही हाथ।
कुल पाँडे, ब्रजराज सुनि, सकल जानि हैं गाथ ॥ ३० ॥

द्वारपाल चलि तहँ गयो, जहाँ कृस्न-जदुराय।
हाथ जोरि ठाढ़ो भयो, बोल्यो सीस नवाय ॥ ३१ ॥

द्वारपाल—
सीस पगा न झगा तन मे, प्रभु! जानै को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी, अरु पाँय उपानह को नहिं सामा ॥
द्वार खरो द्विज दुर्बल देखि, रह्यो चकि-सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा ॥३२॥

बोल्यो द्वारपालक 'सुदामा नाम पाँड़े' सुनि,
छाँड़े राज काज ऐसे जी की गति जानै को?

द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाँय,
भेटे लपटाय करि ऐसे दुख सानै को ?
नैन दोऊ जल भरि पूँछत कुसल हरि,
बिप्र बोल्यो "बिपदा में मोहि पहिचानै को ?
जैसी तुम कीन्हीं तैसी करै को कृपा के सिन्धु,
ऐसी प्रीति दीनबन्धु ! दीनन सों मानै को"? ॥३३॥

भेंटि भली बिधि बिप्र सों, कर गहि त्रिभुवनराय।
अंतःपुर को लै गए, जहाँ न दूसर जाय ॥ ३४ ॥

मनिमंडित चौकी-कनक, ता ऊपर बैठाय।
पानी धर्यो परात में, पग धोवन को लाय ॥ ३५ ॥

जिनके चरनन को सलिल, हरत जगत-सन्ताप।
पाँय सुदामा बिप्र के, धोवत ते हरि आप ॥ ३६ ॥

ऐसे बेहाल बेवाइन सों पग, कंटक जाल लगे पुनि जोए।
'हाय ! महादुख पायो सखा ! तुम आये इतै न कितै दिन खोए" ॥
देखि सुदामा की दीन दसा, करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी-परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सो पग धोए ॥३७॥

श्रीकृष्ण—कछु भाभी हमकौं दियो, सो तुम काहे न देत।
चाँपि पोटरी काँख में, रहे कहौ केहि हेत ॥३८॥

खोलत सकुचत गाँठरी, चितवत हरि की ओर।
जीरन पट फटि छुटि परे, बिखरि गयो तेहि ठौर ॥३९॥

एक मुठी हरि भरि लई, लीनों मुख मैं डारि।
चबत चबाउ करन लगे, चतुरानन त्रिपुरारि ॥४०॥

काँपि उठी कमला मन सोचत, मोसों कहा हरि को मन औंको?
रिद्धि कँपी सब सिद्धि कँपी नव निद्धि कँपी बम्हना यह धौंको॥
सोच भयो सुरनायक के जब दूसरी बार लियो भरि झौंको।
मेरु डर्‌यो "बकसै' जनि मोहिं" कुबेर चबावत चाउर चौंको॥४१॥

भौन भरे पकवान मिठाइन, लोग कहैं निधि है सुषमा के।
साँझ सबेरे चितै अभिलाषत, दाख न चाखत सिंधु रमा के॥
बाँभन एक काऊ दुखिया सेर-पावक चाउर लायो समा के।
प्रीति की रीति कहा कहिये, तेहि बैठि चबात हैं कंत रमा के॥४२॥

मुठी दूसरी भरत ही, रुकुमिनि पकरी बाँह।
ऐसी तुम्हें कहा भई, सपति की अनचाह॥४३॥

कही रुक्मिनी कान में, यह धौं कौन मिलाप।
करत सुदामा आप सों, होत सुदामा आप॥४४॥

हाथ गह्यो प्रभु को कमला कहै नाथ कहा तुमनै चित धारी।
तंदुल खाय मुठी दुइ, दीन कियो तुमने दुइ लोक बिहारी॥
खाई मुठी तिसरी अब नाथ? कहाँ निज बास की आस बिचारी।
रंकहि आप समान कियो तुम, चाहत आपहि होन भिखारी॥४५॥

सात दिवस यहि बिधि रहे, दिन-दिन आदर भाव।
चित्त चलो घर चलन को, ताकर सुनो बनाव॥४६॥

बस्त्रादिक बहु भाँति के पहिराए सुखदाय।
करि प्रनाम कर जोरि कै, बोले त्रिभुवनराय ॥४७॥

श्रीकृष्ण—धन्य कहा कहिए द्विजजू,
तुम सों जग कौन उदार प्रवीनो।
पाछिली प्रीति निबाही भली बिधि,
दोष निवारि कै रोष न कीनों।
हौं द्विज के चरनोदक हेतु,
अजन्म कहाय कै जन्म सुलीनो।
आवत कै निज पावन सो,
यहाँ मोसो अपावन पावन कीनो ॥४८॥

देनो हुतो सो दै चुके, बिप्र न जानी गाथ।
चलती बेर गोपाल जू, कछु न दीन्हों हाथ ॥४९॥

हरि-दरसन तें दूरि दुख, भयो गयो निज देस।
गौतम-रिषि को नाउँ लै, कीन्हौं नगर-प्रवेस ॥५०॥

वैसई राज समाज वेई,
गज बाजि घने मन सम्भ्रम छायो।
"कैधो परयो कहुँ मारग भूलि कै,
कै अब फेरि हौं द्वारिकै आयो" ॥
भौन बिलोकिबे को मग लोचन,
सोचत ही सब गाँव मझायो।
पूछि भे पाँड़े कथा सब सों,
फिर झोपरि को कहुँ सोधु न पायो ॥५१॥

सुदामा (स्वगत)—

जगर-मगर जोति छाय रही चहुँओर,
अगर-बगर हाथी-घोरन को सोर है।
चौपर की बनी है बजार पुनि सोनेन के,
महल दुकान की कतार चहुँ ओर है॥
भीर-भार धकापेल चहूँ दिसि देखियत,
द्वारिका तें दूनी यहाँ प्यादन की जोर है।
रहिबे की ठाम है न, काहू सों पिछान मेरी,
बिन जाने बसे कोऊ हाइ मेरे तोर है॥५२॥

फूटी एक थारी बिन टोटनी की झारी हुती,
बाँस की पिटारी औ कँथारी हुवी टाट की।
बेटे बिन छुरी औ कमडलु सो टूक वही,
फटे हुते पावौ पाटी टूटी एक खाट की॥
पथरौटा, काठ को कठौता कहूँ दीसै नाहिं,
पीतर को लोटो हो, कटोरो हो न बाटकी।
कामरी फटी-सी हुवी डोंडन की माला ताक,
गोमती की माटी को न सुधि कहूँ माट की॥५३॥

चौतरा उजारि कोऊ चामीकर धाम कियो,
छानी तो उपारी डारी छाई चित्रसारी जू।
जो हौं होतो घर तो पै काहे को उठन देतो,
होनहार ऐसी, खोटी दसाई हमारी जू॥

हौं तो हो न, काहु लोभ लाहु को दिखाय वाहि,
महल उठाय लयो हाय ! सुखागारी जू ।
लामीलुम वारी दुःख भूख को दलनहारी,
गैया बनवारी काहू सोऊ मारि डारी जू ॥५४॥

कनक दण्ड कर में लिए, द्वारपाल है द्वार ।
जाय दिखायो सबनि लै, या है महल तुम्हार ॥५५॥

कही सुदामा हसँत हौ, ह्वै करि परम प्रवीन ।
कुटी दिखावहु मोहि वह, जहाँ बाँभनी दीन ॥५६॥

द्वारपाल सों तिन कही, कहि पठवहु यह गाथ ।
आए विप्र महाबली, देखहु होहु सनाथ ॥५७॥

सुनत चली आनदयुत, सब सखियन लै संग ।
नूपुर किंकिनि दुंदुभी, मनहु काम चतुरंग ॥५८॥

कही बाँभनी आयकै, यहै कंत निज गेह ।
श्री जदुपति तिहुँ लोक में, कीन्हें प्रगट सनेह ॥५९॥

सुदामा—हमें कंत तुम जनि कहो, बोलौ बचन सँभार ।
इहै कुटी मेरी हतो, दीन बापुरी नारि ॥६०॥

स्त्री— मैं तो नारि तिहारियै, सुधि सँभारिए कंत ।
प्रभुता सुन्दरता दई अद्भुत श्री भगवंत ॥६१॥

सुदामा—टूटी-सी मड़ैया मेरी परी हुती यहीं ठौर,
तामें परो दु.ख काटौ कहाँ हेम धाम री ।

जेवर-जराऊ तुम साजे प्रति अंग अंग,
सखी सोहैं संग छूछी हुती छाम री।
तुम तौ पटंबर री! ओढ़े हौ किनारीदारी,
सारी जरतारी, वह ओढ़े कारी कामरी।
मेरी वा पँडाइन तिहारी अनुसार ही पै,
बिपदा-सताई वह पाई कह पामरी ॥६२॥

समुझायो निज कंत को, मुदित गई लै गेह।
अन्हवायो तुरतहिं उबटि, सुचि सुगंध सो देह ॥६३॥

पूज्यो अधिक सनेह सों, सिंहासन बैठाय।
सुचि सुगंध अंबर रचे, बर भूषन पहिराय ॥६४॥

उठे पहिरि अंबर रुचिर, सिंहासन पर आय।
बैठे प्रभुता देखि कै, सुरपति रह्यो लजाय ॥६५॥

कै वह टूटी सी छानी हुती, कहँ कंचन के सब धाम सुहावत।
कै पग में पनही न हुती, कहँ लै गजराजहु ठाढ़े महावत॥
भूमि कठोर पै रात कटै, कहँ कोमल सेज पै नींद न आवत।
कै जुरतो नहीं कोदो सवाँ, प्रभु के परताप तें दाख न भावत ॥६६॥

धन्य धन्य जदुवंश मनि, दीनन पै अनुकूल।
धन्य सुदामा सहित तिय, कहि बरषहिं सुर फूल ॥६७॥

❀

७—दीनदयाल गिरि

जन्म संवत् १८५६ मृत्यु-संवत् १९१४

इनका जन्म काशी में एक ब्राह्मण वंश में हुआ था। ५ वर्ष की अवस्था में ही इनके माता पिता स्वर्गवासी हो गये। महंत कुशागिरि ने इनको शिक्षा दीक्षा की। उनके मरने पर ये ही उनकी गद्दी पर बैठे। ये संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। ये सहृदय और भावुक कवि थे। इनकी अन्योक्तियाँ प्रसिद्ध हैं।

भाषा तथा शैली—

भाषा पर इनका बहुत ही अच्छा अधिकार था। इनकी भाषा साहित्यिक तथा सुव्यवस्थित है। ये भावुक कवि थे, इन्होंने कई शैलियों पर रचना की है। इनकी कविताओं की भावुकता का चमत्कार इनकी रचनाओं में ज्वलंत है। इनकी शैली सरस पदविन्यास सरल तथा शब्द-चयन अलंकृत है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ—

१—अन्योक्तिकल्पद्रुम, २—अनुराग बाग

३—दृष्टांत तरंगिणी

अन्योक्तियाँ

पहो धीर रसाल! अति सोहत हौ सिरमौर।
साखा बरनै रावरी द्विजवर ठौरै ठौर॥
द्विजवर ठौरै ठौर रावरो ही फल चाहैं।
निकसे जो तव पात सुमन सों सुधी सराहैं॥
बरनै 'दीनदयाल' धन्य वा धात्री के हो।
जातें प्रगटे आय आप उपकारी, पहो॥ १॥

जिन तरु को परिमल परसि लियो सुजस सबठाम।
तिन भंजन करि आपनो, कियो प्रभंजन नाम॥
कियो प्रभंजन नाम, बड़ो कृतघन बरजोरी।
जब जब लगी दवागि, दियो तब झोंकि झकोरी॥
बरनै 'दीनदयाल', सेउ अब खल थल मरु को।
लै सुख सीतल छाँह तासु तोर्यो जिन तरु को॥ २॥

केतो सोम कला करो, करो सुधा को दान।
नहीं चन्द्रमनि जो द्रवै, यह तेलिया पखान॥
यह तेलिया पखान, बड़ी कठिनाई जाकी।
टूटी याके सीस, बीस बहु बाँकी टाँकी॥
बरनै 'दीनदयाल', चद तुमही चित्त चेतो।
कूर उर कोमल होहिं, कला जो कीजै केतो॥ ३॥

बरसै कहा पयोद इत, मानि मोद मन माहिं।
यह तो ऊसर भूमि है, अंकुर जमिहैं नाहिं॥
अंकुर जमिहैं नाहिं, बरष सत जो जल दैहै।
गरजै तरजै कहा, वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै 'दीनदयाल', न ठौर कुठौरहि परसै।
नाहक गाहक बिना, बलाहक ह्याँ तू बरसै॥ ४॥

रंभा झूमत हौ कहा, थोरे ही दिन हेत।
तुमसे केते ह्वै गये, अरु ह्वै हैं यहि खेत॥
अरु ह्वै हैं यहि खेत, मूल लघु साखा हीने।
ताहू पै गज रहै, दीठि तुमपै प्रति दीने॥
बरनै 'दीनदयाल', हमैं लखि होत अचम्भा।
एक जनम के लागि, कहा झुकि झूमत रम्भा॥ ५॥

नाहीं भूलि गुलाब तू, गुनि मधुकर गुंजार।
यह बाहर दिन चार की, बहुरि कटीली डार॥
बहुरि कटीली डार, होहिगी ग्रीष्म आये।
लुवैं चलेंगी संग, अंग सब जैहैं ताये॥
बरनै 'दीनदयाल', फूल जौलौं तो पाहीं।
रहे घेरि चहुँ फेरि, फेरि अलि ऐहैं नाहीं॥ ६॥

टूटे नख-रद केहरी, वह बल गयो थकाय।
हाय जरा अब आइकै, यह दुख दियो बढ़ाय॥

यह दुख दियो बढ़ाय, चहूँ दिसि जंबुक गाजैं।
ससक लोमरी आदि, स्वतंत्र करैं सब राजैं॥
बरनै 'दीनदयाल', हरिन बिहरैं सुख लूटे।
पगु भयो मृगराज, आज नख-रद के टूटे॥ ७॥

पैहौ कीरति जगत में, पीछे धरो न पाँव।
छत्री कुल के तिलक हे महा समर या ठाँव॥
महा समर या ठाँव, चलैं सर कुन्त कृपानैं।
रहे धीर मन गाजि, पीर उर में नहि आनैं॥
बरनै 'दीनदयाल' हरपि जो तेग चलैहौ।
होइ हौ जीते जसी, मरे सुर लोकहि पैहौ॥ ८॥

भारी भार भर्‌यो बनिक, तरबो सिंधु अपार।
तरी जरजरी फाँस परी, खेवन हार गँवार॥
खेवन हार गँवार, ताहि पर पौन झँकोरै।
रुकी भँवर में आय, उपाय चलै न करोरै॥
बरनै 'दीनदयाल', सुमिर अब तू गिरधारी।
आरत-जन के काज, कला जिन निज सभारी॥ ९॥

सोई देस विचारि कै, चलिये पथी सुचेत।
जाके जस आनंद की कविवर उपमा देत।
कविवर उपमा देत, रंक भूपति सम जामें।
आवागमन न होय, रहै मुद मंगल तामें॥
बरनै दीन दयाल, जहाँ दुख सोक न होई।
एहो पथी प्रवीन, देश को जैयो सोई॥ १०॥

कोई संगी नहिं उतै, है इतही को संग।
पथी लेहु मिलि ताहि तें, सबसों सहित उमग॥
सबसों सहित उमंग, बैठि तरनी के माहीं।
नदिया नाव संयोग, फेरि यह मिलिहै नाहीं॥
बरनै 'दीनदयाल', पार पुनि भेंट न होई।
अपनी अपनी गैल, पथी जैहैं सब कोई॥ ११॥

राही सोवत इत कितै, चोर लगे चहुँ पास।
तो निज धन के लेन को, गिनैं नींद की स्वाँस॥
गिनैं नींद की स्वाँस, बास बसि तेरे डेरे।
लिये जात धनि मीत, माल ये साँझ सबेरे॥
बरनै 'दीनदयाल', न चीन्हत है तू ताही।
जाग जाग रे जाग इतै कित सोवत राही॥ १२॥

८—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म सवत् १६०७ मृत्यु-सवत् १६४२

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी का जन्म-स्थान काशी है। वे इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचद के वशज थे। उनके पिता गोपालचन्द भी अच्छे कवि थे। कविता में उन्होंने अपना उपनाम 'गिरधर' रक्खा था। बाल्यावस्था में ही भारतेन्दु बाबू के माता-पिता का देहावसान हो जाने के कारण उनकी शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध नहीं हो सका, पर उनकी बुद्धि इतनी तीव्र थी कि साहित्य में उन्होंने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। उनके विचार बड़े उदार थे और अपनी उदारता के कारण वे अपव्यय भी करते थे, इसी से अपने जीवन के अन्तिमकाल में उन्हें कष्ट सहना पड़ा। ३५ वर्ष की उम्र में ही उनकी मृत्यु हो गई।

भारतेन्दु जी आधुनिक हिन्दी-साहित्य के जन्मदाता हैं। हिन्दी के गद्य साहित्य का स्वरूप उन्हीं के द्वारा निश्चित हुआ। उन्हीं के द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलकर ही आज हिन्दी साहित्य उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जा रहा है। उन्होंने ही पहले नाटक लिखे, इतिहास तथा निबन्धों की रचना की, पत्रिकाएँ निकालीं, कवियों और लेखकों का एक बड़ा मण्डल तैयार किया तथा हिन्दी साहित्य में एक नये आदर्श का निर्माण किया। कविता के क्षेत्र में उन्होंने रीतिकाल के कवियों का ही अनुकरण किया है। उनकी कविताओं में वही प्रेम, वही भाषा माधुर्य और वही भाव-सौन्दर्य है; परन्तु उन्होंने देश की वर्तमान अवस्था पर

भी कविताएँ लिखी हैं। उनके प्रकृति वर्णन में प्रकृति का यथार्थ चित्रण है। इस प्रकार कल्पना के क्षेत्र में वस्तुवाद की प्रतिष्ठा हुई और सामयिक कविताओं का प्रचार बढ़ा। कविता के नायक एकमात्र राधा कृष्ण नहीं रहे, अन्य विषयों पर भी कविताएँ लिखी जाने लगीं। यही कारण है कि भारतेन्दु जी हिन्दी के युग प्रवर्तक कवि माने जाते हैं।

भाषा तथा शैली—

इनकी काव्य भाषा व्रज भाषा है। खड़ी बोली में भी इन्होंने कुछ पद्य रचना की है, पर उसम वह सौंदर्य नहीं है, जो व्रजभाषा की कविता में है। इनका विश्वास था कि खड़ी बोली की कविता, में वह माधुर्य, लालित्य आ ही नहीं सकता, जो व्रजभाषा की कविता में है। ये उर्दू संस्कृत, गुजराती, बंगला, पंजाबी, मराठी आदि भाषाओं में भी कवित कर लेते थे। इन्होंने कई शैलियों म पद्य रचना की है, कवित्त, दोहा सवैया, के अतिरिक्त पद, तथा संस्कृत छंद शैली में भी रचना की है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ—

१—मुद्राराक्षस
२—सत्यहरिश्चन्द्र
३—चन्द्रावली
४—भारत दुर्दशा
५—सुन्दरी तिलक

प्रबोधिनी

जागो मंगल रूप समल व्रज-जन-रखवारे।
जागो नन्दानन्द करन जसुदा के बारे॥
जागो बलदेवानुज रोहिनि मात दुलारे।
जागो श्री राधा जू के प्रानन ते प्यारे॥
जागो कीरति लोचन सुखद, भानु मान वर्द्धित करन।
जागो गोपी गो गोप प्रिय, भक्त-सुखद असरन सरन॥१॥

होन चहत अब प्रात, चक्रवाकिनि सुख पायो।
उड़े बिहँग तजि बास चिरैयन रोर मचायो॥
नव मुकुलित उत्पल पराग लै सीत सुहायो।
मंथर गति अति पवन करत पङ्कुर बन धायो॥
कलिका उपबन विकसन लगीं, भँवर चले सचार करि।
पूरब पच्छिम दोउ दिसि अरुन, तरुन अरुन कृत तेज धरि॥२॥

नारद तुंबरु पढ़ विभास ललितादि अलापत।
चारहु मुखसों वेद पढ़त विधि तुव जस थापत॥
इन्द्रादिक सुर नमत जुहारत थर थर काँपत।
व्यासादिक रिषि हाथ जोरि तुव अस्तुति जापत।
जय विजय गरुड़ कपि आदिगन, खरे खरे मुजरा करत।
सिव डमरू लै गुन गाइ तुव प्रेम मगन आनँद भरत॥३॥

दुर्गादिक सब खरी, कोर नैनन की जोहत ।
गंगादिक श्राचॅवन हेत, घट लाई सोहत ॥
तीरथ सब तुव चरन-परस हित ठाढ़े मोहत ।
तुलसी लीने कुसुम, अनेकन माला पोहत ॥
ससि सूर पवन घन इंदिरा, निज निज सेवा म लगत ।
ऋतु काल यथा उपचार में, खरे भर भय सगबगत ॥४॥

करत काज नहिं नर, बिना तुव मुख अवरेखे ।
दारू बन नहिं जात, बदन सुन्दर बिनु देखे ॥
ग्वालिन दधि नहिं बेंचि सकत लालन बिनु पेखे ।
गोप न चारत गाय, लखे बिनु सुंदर भेखे ॥
भइ भीर द्वार भारी खरे, सब मुख निरखन श्रास करि ।
बलिहार जागिये देर भई, बन गोचारन चेत धरि ॥५॥

डूबत भारत नाथ, बेगि जागो अब जागो ।
आलस दव एहि दहन हेतु चहुँ दिसि सों लागो ॥
महा मूढ़ता वायु, बढ़ावत, तेहि अनुरागो ।
कृपा-दृष्टि की वृष्टि, बुझावहु आलस त्यागो ॥
अपुनो अपुनायो जानि कै, करहु कृपा गिरवर धरन ।
जागो बलि बेगिहि नाथ अब, देहु दीन हिन्दुन सरन ॥६॥

प्रथम मान धन बुधि कौशल बल देइ बढायो ।
क्रमसे विषय विदूषित जन करि तिनहिं घटायो ॥
आलस में पुनि फाँसि, परसपर बैर बढ़ायो ।
ताही के मिस जवन, काल सम को पग आयो ॥

तिनके कर की करवाल बल, बाल वृद्ध सब नासि कै।
अब सोवहु होय अचेत तुम, दीनन के गल फाँसि कै ॥७॥

कहँ गये विक्रम भोज, राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।
चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करिकै थिर॥
कहँ छत्री सब मरे, जरे सब गए कितै गिर।
कहाँ राज को तौन, साज जेहि जानत है चिर॥

कहँ दुर्ग सैन्य धन बल गयो, धूरहि धूर दिखात जग।
जागो अब तो खल बल दलन, रच्छहु अपनो आर्य मग ॥८॥

गयो राज धन तेज, रोष बल ज्ञान नसाई।
बुद्धि वीरता श्री उछाह सूरता बिलाई॥
आलस कायरपनो, निरुद्यमता अब छाई।
रही मूढ़ता बैर, परस्पर कलह लराई॥

सब बिधि नासी भारत-प्रजा, कहुँ न रह्यो अवलंब अब।
जागो जागो करुनायतन, फेर जागिहौ नाथ कब ॥९॥

सीखत कोउ न कला, उदर भरि जीवत केवल।
पसु समान सब अन्न खात पीवत गङ्गाजल॥
धन बिदेस चलि जात, तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत, अकिल हत रचि न सकत कल॥

जीवत बिदेस की वस्तु लै, ता बिन कछु नहिं करि सकत।
जागो जागो अब साँवरे, सब कोउ रुख तुमरो तकत ॥१०॥

सब देसन की कला सिमिटि कै इतही आवै।
कर राजा नहिं लेइ, प्रजन पैं हेत बढ़ावै॥

गाय दूध बहु देहिं, तिनहिं कोऊ न नसावै।
द्विजगन आस्तिक होहिं, मेघ सुभ जल बरसावै॥
तजि क्षुद्र वासना नर सबै, निज उछाह उन्नति करहिं।
कहि कृष्ण राधिका-नाथ जय, हमहूँ जिय आनंद भरहिं॥११॥

भक्ति-भाव

बोल्यो करै नूपुर स्रोननि के निकट सदा,
पदतल माँहि मन मेरे बिहर्‌यौ करै।
बाज्यौ करै वंसी-धुनि पूरि रोम-रोम,
मुख मन मुसुकानि मंद मनहि हर्‌यौ करै॥
हरीचंद, चलनि मुरनि बतरानि चित,
छाई रहै छबि जुग दृगनि भर्‌यौ करै।
प्रानहूँ तें प्यारो रहै प्यारो तू सदाई,
प्यारे पीतपट सदा हीय बीच फहर्‌यौ करै॥ १॥

पूरन सुकृत फल श्री भट गुपाल जो के,
भक्त महिपाल जू के संकट-सुमन जू।
दौर गजराज-काज लाज राखी द्रौपदी की,
धार्‌यौ गिरि राज देव-मद के दमन जू॥
निज दासी दीन-दुख हरन परन चारु,
सुख के करन सदा सपदा-भमन जू।
मुरली-लकुट वारे, चंद्रिका मुकुट वारे,
दुरित हमारे दरौ राधिकारमन जू॥ २॥

प्यारे, अब तो सही न जात।
कहा करैं कछु बनि नहिं आवत, निसि दिन जिय पछितात।
जैसे छोटे पिंजरा में कोउ पंछी परि तड़िपात।
त्योंही प्रान परे यह मेरे, छूटन को अकुलात।
कछु न उपाव चलत अति व्याकुल, मुरि मुरि पछरा खात।
हरीचंद, खींचौ अब कोउ विधि छाँड़ि पाँव औ सात॥ १॥

सँभारहु अपने कों गिरिधारी।
मोर-मुकुट सिर-पाग पेंच कसि, राखहु अलक सँवारी।
हिय हलकति बनमाल उठावहु, मुरली धरहु उतारी।
चक्रादिकन सान दै राखौ, कंकन-फँसन निवारी।
नूपुर लेहु चढ़ाइ किंकनी, खींचहु करहु तयारी।
पियरो पट परिकर कटि कसि कै बाँधौ हो बनवारी।
हम नाहीं उनमें जिनकों तुम सहजहिं दीनों तारी।
बानो जुगवौ नीकें अबकी, हरिचंद की बारी॥ २॥

रहैं क्यों एक म्यान असि दोय।
जिन नैनन में हरि-रस छायौ तिहिं क्यों भावै कोय।
जा तन मन में रमि रहे, मोहन, तहाँ ग्यान क्यों आवै।
चाहौ जितनी बात प्रबोधौ, ह्याँ को, जो पतियावै।
अमृत खाइ अब देखि इनारुन, को मूरख जो भूलै।
हरीचंद, ब्रज को कदली बन, काटौ तौ फिरि फूलै॥ ३॥

वेणु-गीत

धनि ये मुनि वृंदावन-वासी।
दरसन हेतु विहंगम ह्वै रहे, मूरति मधुर उपासी।
नव कोमल-दल पल्लव द्रुम पै मिलि बैठत हैं आई।
नैनन मूँदि त्यागि कोलाहल, सुनहिं बेनु-धुनि माई।
प्राननाथ के मुख की बानी, करहिं अमृत रस-पान।
हरीचंद हमको सोउ दुरलभ, यह बिधि की गति आन॥ १॥

सखी, यह अति अचरज की बात।
गोप सखा अरु गो गन लै, जब राम कृष्ण बन जात।
बेनु बजावत मधुरे सुर सों सुनि कैं ता धुनि कान।
भूलि जात जग में सब की गति, सुनत अपूरब तान।
वृच्छन को रोमांच होत है, यह अचरज अति जान।
थावर होइ जात है जंगम, जंगग थावर मान।
गोबर्धन कंधन पै धारे, फेंट झुकि रह्यौ माथे।
मत्त भृंगजुत है बनमाला, फूलछरी पुनि हाथ।
बेनु बजावत गीतन गावत, आवत बालक संग।
हरीचंद, ऐसी छबि निरखत, बाढ़त अंग अनंग॥ २॥

जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

६—जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

जन्म संवत्—१९२३ मृत्यु संवत्—१९८९

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म स्थान काशी है। वे अग्रवाल वैश्य थे। उनके पिता की मैत्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से थी। इसी से बाल्य-काल से ही 'रत्नाकर' जी की प्रवृत्ति काव्य-रचना की ओर हुई। प्राचीन साहित्य का भी उन्होंने अच्छा अध्ययन किया और वे अँग्रेजी और फारसी के विद्वान तो थे ही। उन्होंने ब्रजभाषा में ही कविताएँ लिखी हैं। युग के कवियों में एक वे ही ऐसे कवि हैं—जिनकी रचनाओं में ब्रज-साहित्य की पूर्ण मधुरता विद्यमान है। उन्होंने 'बिहारी सतसई' पर बड़ी विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी और कितने ही प्राचीन काव्यों का सम्पादन किया।

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता है वस्तुवाद। रत्नाकर जी पर भी इस युग का प्रभाव पड़ा है। इनके वर्णन में आधुनिक जीवन का प्रतिबिम्ब है। मध्ययुग के कवियों ने कल्पना से जीवन को बिल्कुल पृथक् कर एक कल्पित क्षेत्र में ही सदैव विहार किया है। देश की अवस्था ने उनकी कल्पना पर कभी आघात नहीं किया; उनके कल्पित लोक में सदैव वसन्त ही बना रहा, सदा नायक नायिकाओं की गान लीला ही होती रही; परन्तु यही बात रत्नाकर जी के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। उनकी कविता में मध्यकालीन भावों और आदर्शों की प्रधानता रहने पर भी देश की छाया विद्यमान है।

भाषा और शैली

'रत्नाकर' जी व्रजभाषा के कवि हैं। यह भी सत्य है कि उन्हों ने व्रजभाषा के प्राचीन कवियों की शैली का ही अनुकरण किया और उनकी रचनाओं में वही पद लालित्य है, वही ओज है और वही उक्ति-वैचित्र्य भी है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ—

१—गङ्गावतरण
२—उद्धव शतक
३—बिहारी-रत्नाकर

सत्य-प्रतिष्ठा

कीन्हें कंबल बसन तथा लीन्हें लाठी कर।
सत्यव्रती हरिचंद हुते टहरत मरघट पर॥
कहत पुकारि पुकारि "बिना कर कफन चुकाये।
करहि क्रिया जनि कोइ देत हम सबहिं जताये॥ १॥

कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई॥
बिबिध रंग की उठति ज्वाल दुर्गंधनि महकति।
कहुँ चरबी सौं चटचटाति कहूँ दह दह दहकति॥ २॥

हरहरात इक दिसि पीपर कौ पेड़ पुरातन।
लटकत जामैं घंट घने माटी के बासन॥
बरषा-ऋतु के काज औरहू लगत भयानक।
सरिता बहति सबेग करारे गिरत अचानक॥ ३॥

रटत कहूं मंडूक कहूँ झिल्ली झनकारैं।
काक-मडली कहूँ अमंगल मंत्र उचारैं॥
लखत भूप यह साज मनहिं मन करत गुनावन।
'परयो हाय! आजन्म कर्म यह करन अपावन॥ ४॥

भये डोम के दास बास ऐसे थल पायौ।
कफन-खसोटी काज माँहि दिन जात बितायौ॥

कौन कौन सी बातनि पैं दृग - बारि बिमोचैं।
अपनी दसा लखैं कै दुख रानी कौ सोचैं॥ ५॥
कै अजान बालक कौ अब संताप बिचारैं।
भयौ कहा यह हाय! होत मन हृदय बिदारैं॥'
इहि बिधि बिबिध बिचार करत चारिहु दिसि टहरत।
कबहुँ चलत, कहुँ चपल, कबहुँ काहू थल ठहरत॥ ६॥
भई आनि तब साँझ घटा घिरि आई कारी।
सनै सनै सब ओर लगी बाढ़न अँधियारी॥
भये एकट्ठा आनि तहाँ डाकिनी - पिचास - गन।
कूदत, करत किलोल, किलकि दौरत, तोरत तन॥ ७॥
गई राति रहि सेस रंच पौ फाटन लागी।
नृप के अंतिम परत्रन की पारी अब जागी॥
टहरत टहरत बाम अंग लागे कछु फरकन।
औ ताही के संग अनायासहि हिय धरकन॥ ८॥
यह असगुन क्यौं होत कहा अब अनरथ ह्वै है।
गयौ कहा रहि सेस, जाहि बिधना अब ख्वैहै॥
छूट्यौ राज - समाज, भये पुनि दास पराये।
ऐसी महिषी हूँ कौं तब दासी करि आये॥ ९॥
और अबोध बालकहूँ कौं बिलखत संग भेज्यौ।
इक मरिबे कौं छाँड़ि कहा जौ नाहि अंगेज्यौ॥
फरकी बाईं आँखि बहुरि सोचत बालक कौं।
औ यह धुनि सुनि परी परम दृढ़ ब्रत-पालक कौं॥ १०॥

"सावधान ! अब वत्स ! परिच्छा अंतिम है यह ।
डिगन न पावै सत्य, हरिच्छा अंतिम है यह ॥
ऐसो कठिन कलेस सह्यो कोऊ नृप नाहीं ।
अपनेहिं कैसो धैर्य धरौ याहू दुख माँहीं ॥ ११ ॥
तव पुरखा इक्ष्वाकु आदि सब नभ मैं ठाढ़े ।
सजल, नयन, धरकत हिय-जुत; इहिं अवसर गाढ़े ॥
संसय, संका, सोक, सोच, संकोच, समाये ।
साँस रोकि तव मुख निरखत बिन पलक गिराये ॥ १२ ॥
देखहु तिनके सीस होन अवनत नहिं पावैं ।
ऐसी विधि आचरहु सकल-जग-जन जस गावैं ॥
यह सुनि नृप ह्वै चकित चपल चारिहुँ दिशि हेर्यो ।
"ऐसे कुसमय माँहि कौन हित सौं इमि टेर्यो ॥ १३ ॥
जब कोउ दीस्यौ नाहिं हृदय तब यह निरधार्यो ।
"ज्ञात होत, कुल-गुरु सूरज यह मंत्र उचार्यो ॥
ह्वै आतुर निज आवन मैं करि बिलम्ब गुनावन ।
उदयाचल की ओटहि सौं यह दीन्ह सिखावन" ॥ १४ ॥
यह विचारि पुनि धारि धीर दृढ़ उत्तर दीन्हौं ।
"महानुभाव ! महान अनुग्रह हम पै कीन्हौं ॥
तजहु संक सब अंक कलंक लगन नहिं दैहैं ।
जब लौं घट मैं प्रान आन करि सत्य निबैहैं" ॥ १५ ॥
एतेहि मैं स्रुति माँहि शब्द रोवन को आयो ।
भूलि भाव सब और, स्वामि-हित मैं चित लायो ॥

लट्ठ ठोकि तिहिं ओर चले आतुर आहट पर।
सांति मुनिनि की माटि गई तेहि घबराहट पर॥ १६॥
पग उठावतहिं भये असुभ-सुभ-सगुन एक सँग।
जबुक काटी बाट, लगे फरकन दहिने अँग॥
बिगत बिषाद हर्षेहव हिय धरि धैर्य, भाव भरि।
होत हुतो जहँ रुदन तहाँ पहुँचे सुमिरत हरि॥ १७॥
देखी सहित बिलाप बिकल रोवति इक नारी।
धरे सामुहैं मृतक देह इक लघु आकारी॥
कहति पुकारि पुकारि "वत्स! मैया-मुख हेरौ।
चीर-पुत्र ह्वै ऐसे कुसमय आँखि न फेरौ॥ १८॥
हाय! हमारौ लाल लियौ इमि लूटि बिधाता।
अब काकौ मुख जोहि मोहि जीवै यह माता॥
पति स्वर्गौ हूँ रहे प्रान तब छोह-सहारे।
सो तुमहूँ अब हाय! बिपति में छाँड़ि सिधारे॥ १९॥
अबहिं साँझ लौं तौ तुम रहे भली बिधि खेलत।
औचकहीं मुरझाय परे मम भुज मुख मेलत॥
हाय! न बोले बहुरि इतौइ उत्तर दीन्हौ।
'फूल-लेत गुरु हेत साँप हमकौ डसि लीन्हौ'॥ २०॥
गयौ कहाँ सो साँप आनि क्यौं मोहूँ डसत ना।
अरे! प्रान किहि आस रहे अब बेगि नसत ना॥
कबहूँ भाग-बस प्रान-नाथ जो दरसन दैहैं।
तौ तिनकौं हम बदन कहौ किहि भाँति दिखैहैं॥ २१॥

करि विलाप इहिं भाँति उठाय मृतक उर लायौ।
चूमि कपोल, विलोकि बदन, निज गोद लिटायौ॥
हिय-बेधक यह दृश्य देखि नृप अति दुख पायौ।
सके न सहि, बिलखाइ नैंकु हटि, सीस नवायौ॥ २२॥

लगे कहन मन माँहि "हाय! याकौ दुख देखत।
हम अपनोहूँ दुसह दुख न्यूनहिं करि लेखत॥
ज्ञात होत, काहू कारन याकौ पति छूट्यौ।
पुत्र-सोक को वज्र हिये ताहू पर टूट्यौ॥ २३॥

हाय! हाय!! याकौ दुख देखत फाटति छाती।
दियौ कहा दुख अरे! याहि बिधना दुखघाती॥
हाय! हमैं अब याहू सौं माँगन कर परिहै।
पै याकै सौंहें कैसे यह बात निकरिहै" ॥ २४॥

पुनि भूपति को ध्यान गयौ ताकैं रोवन पर।
बिलखि बिलखि इमि भाषि सीलगुनिमुख-जोवन पर॥
"पुत्र! तोहिं लखि भाषत जे सब गुनि अरु पंडित।
ह्वै है यह महाराज, भोगिहै आयु अखंडित॥ २५॥

तिनकै सौ सब वाक्य हाय! प्रतिकूल लखाये।
पूजा पाठ, दान, जप, तप, सब वृथा जनाये॥
तव पितु कौ दृढ़ सत्य महहु कछु काम न आयौ।
बालपनेहिं मैं मरे, जथाबिधि कफन न पायौ" ॥ २६॥

यह सुनि औरै भये भाव सब भूप-हृदय के।
लगे दृगनि मैं फिरन रूप संसय अरु भय के॥

चढ़ी ध्यान पै आनि पूर्व घटना सम ह्वै ह्वै।
हिचकिचान से लगे कछुक सबकी दिसि ज्वै ज्वै ॥ २७ ॥
एतहि मैं रोवत रोवत सो बिलखि पुकारी।
"हाय! आज पूरी कौसिक सब आस तिहारी" ॥
यह सुनि एकाएक भई धक सों नृप-छाती।
भरी भराई सुरग माँहि लागी जनु बाती ॥ २८ ॥
धीरज उड्यौ धधाइ धूम दुख कौ घन छायौ।
भयौ कहा अंधेर न हित अनहित दरसायौ ॥
बिबिध गुलावन महा मर्म-बेधी जिय जागे।
"हाय पुत्र! हा रोहितास्व!" कहि रोवन लागे ॥ २९ ॥
"हाय! भयौ कहो कहा, हमैं यह जात न जान्यौ।
जो पतिनी अरु पुत्रहि अबलौ नहि पिछान्यौ ॥
हाय! पुत्र तुम कहा जनमि जग में सुख पायौ।
कीन्हौं कहा बिलास, कहा खेल्यौ अरु खायौ ॥ ३० ॥
हाय! हमारैं काज कष्ट भोग्यौ तुम भारी।
राज कुँवर ह्वै हाय! भूख और प्यास सँभारी ॥
पातक ही ह्वै गयौ आज-लौं जौ हम कीन्हौ।
नतरु पुत्र को सोच दुसह अति क्यौं बिधि दीन्हौ ॥ ३१ ॥
जग कौं यह वृत्तांत जनावन कैं पहिलैं ही।
महिषी कौं यह वदन दिखावन कैं पहिलैं ही ॥
जानि परत अति उचित प्रान तजि देन हमारौ।
जामैं सब संसार माँहि मुख होहि न कारौ" ॥ ३२ ॥

यह विचार करि कै पीपर के पास पधारे।
लीन्हीं डोरी खोल द्वैक घंटनि करि न्यारे॥
मेल तिन्हें पुनि एक छोर पर फाँद बनायौ।
चढ़ि एक साखा बाँधि छोर दूजौ लटकायौ॥ ३३॥
पै ज्योंहीं गर माँहि फाँस दै कूदन चाह्यौ।
त्यौंही सत्य-विचार बहुरि उर माँहि समाह्यौ॥
'हरे! हरे!! यह कहा बात हम अनुचित ठानी।
कहा हमैं अधिकार भई जब देह बिरानी॥ ३४॥
अब तौ हम हैं दास डोम के आज्ञाकारी।
रोहितास्व नहिं पुत्र, न सैव्या नारि हमारी॥
चलैं स्वामि कै काज माँहि दृढ़ ह्वै चित लावैं।
लेहिं कफन कौ दान वेगि नहिं विलंब लगावैं॥ ३५॥
"हाय! वत्स तुम बिन अब जग जीवित नहिं रैहैं।
याही छन इहिं ठाम प्रान काहू विधि दैहैं॥
याहि बिटप मैं लाइ गरैं फाँसी मर जैहैं।
कै पाथर उर धारि धार मैं धाइ समैहैं" ॥ ३६॥
यौं कहि उठि अकुलाइ चह्यो धावन ज्यौं रानी।
त्यौं स्वर करि गंभीर तुरत बोले नृप बानी॥
" बेचि देह दासी ह्वै तब तौ धर्म सँभारयौ॥
अब अधरम क्यौं करति, कहा यह हृदय विचार्‌यौ॥ ३७॥
या तन पै अधिकार कहा तुमकौं सोचौ छिन।
जालि-भूमि जौ मरन चलौं 'स्वामी-आयसु-बिन" ॥

यह सुनि ह्वै चैतन्य महारानी मन आन्यौ।
"ऐसे कुसमय माँहि कौन हित-मंत्र बखान्यो ॥ ३८ ॥
तब नृप बरबस रोकि आँसु सौंहैं बढ़ि आये।
थामि करेजौ धारि धीर ये शब्द सुनाये ॥
"है मसानपति की आज्ञा कोउ मृतक फूकै ना।
जब लौं फूकनहार कफन आधौ कर दै ना ॥ ३९ ॥
यातें देवी! देहु तुमहु कर क्रिया करौ तब"।
भर्यौ गगन यह शब्द भूप इमि टेरि कह्यौ जब ॥
"धन्य! धैर्य, बल, सत्य दान सब लसत तिहारैं।
अहो! भूप हरिचंद सकल लोकनि तैं न्यारैं" ॥ ४० ॥
यह सुनि सैब्या भई चकित बोली इत - उत ज्वै।
"आर्यपुत्र की करत प्रशंसा कौन हितू ह्वै ॥
पै इहि वृथा प्रशंसा हूँ सौं होत कहा फल।
जानि परत सब शास्त्र आदि अब तो मिथ्या फल ॥ ४१ ॥
निस्संदेह सुर सकल महीसुर स्वारथ - रत अति।
नातरु ऐसे धर्मी की कैसें ऐसी गति ॥
यह सुनि स्रवननि धारि हाथ भूपति तिहिं टोक्यौं।
हरे! हरे!! यह कहति कहा तुम, यौं कहि रोक्यौ ॥ ४२ ॥
"सूर्यबंस की वधू, चंद - कुल की ह्वै कन्या।
मुख सौं काढ़हि हाय! कहा यह बात अधन्या ॥
वेद, ब्रह्म, ब्राह्मन, सुर सकल सत्य जिय जानौ।
दोष आपने कर्महिं को निहचय करि मानौ ॥ ४३ ॥

मुख सों ऐसी बात भूलि फिरि नाहि निकारौ।
होत बिलंब, दै हमैं कफन, करि क्रिया पधारौ॥"
सुनि यह अति दृढ़ बचन महिषि निज नाथहिं जान्यौ।
कछु प्रभाव, कछु स्वर कछु आकृति सौं पहिचान्यौ॥ ४४॥
परी पायँ पर धाइ फूटि पुनि रोवन लागी।
औरौं भई अधीर अधिक आरति जिय जागी॥
कह्यौ हुचकि "हा नाथ! हमैं ऐसो बिसरायौ।
कहाँ हुते अब लौं कबहूँ नहिं बदन दिखायौ॥ ४५॥
हाय! आपने प्रिय सुत की यह दसा निहारौ।
लुटि गईं हम हाय! करहिं अब कहा उचारौ"॥
सुनि भूपति गहि सीस उठाय बिबिध समुझायौ।
"प्रिये! न छाँड़ौ धैर्य लखौ जो दैव लखायौ॥ ४६॥
चलौ हमैं दै कफन क्रिया करि भौन सिधारौ।
सुनौ बीर-पत्नी ह्वै धीरज नाहिं बिसारौ"॥
यह सुनि सैब्या कह्यो बिलखि अतिसय मन माँहीं।
"नाथ! हमारैं पास हुतौ बस्तर कोउ नाहीं॥ ४७॥
अंचल फारि लपेटि मृतक फूँकन ल्याई हैं।
हा! हा!! एतौ दूर बिना चादर आई हैं॥
दीन्हें! कफनहि फारि लखहु सब अंग खुलत है।
हाय! चक्रवर्ती कौ सुत बिन कफन फूँकत है"॥ ४८॥
कह्यो भूप "हम करहिं कहा, हैं दास पराये।
फुँकन देन नहि सकत मृतक बिन कर चुकवाये॥

ऐसे हि अवसर माँहि पालिबौ धर्म काम है।
महा विपति मैं रहै धैर्य सोई ललाम है॥ ४९॥
बेचि देहहूँ जिहि सत्यहिं राख्यौ मन ल्यावौ।
एक टूक कपड़े पर, तेहि जानि आज छुड़ावौ॥
फारि बसन तैं अर्ध, कफन कर बेगि चुकावौ।
देखौ चाहत भयौ भोर जनि बेर लगावौ" ॥ ५०॥

सुनि महिषी बिलखाइ कफन फारन उर ठायौ।
पै ज्यौं हा उत "जौ आज्ञा" कहि हाथ बढ़ायौ॥
त्यौंही एकाएक लगी काँपन महि सारी।
भयौ महा इक घोर शब्द अति विस्मयकारी॥ ५१॥

बाजे परे अनेक एकही बेर सुनाई।
बरसन लागे सुमन चहूँ दिसि जय-धुनि छाई॥
फैलि गई चहुँ ओर बिज्जु कैसी उँजियारी।
गहि लीन्ह्यौ कर आनि अचानक हरि असुरारी॥ ५२॥
लगे कहन दृग-वारि ढारि "बस महाराज! बस,
सत्य-धर्म की परमावधि ह्वै गई आज बस॥
पुनि पुनि काँपति धरा पुण्य-भय लखहु तिहारैं।
अब रच्छहु तिहुँ लोक मानिकै वचन हमारैं" ॥ ५३॥
करि दंडवत प्रनाम कह्यौ महिपाल जोरि कर।
"हाय! हमारैं काज कियौ यह कष्ट कृपा कर"॥
एतोही कहि सके बहुरि नृप-गर भरि आयौ।
तब सैब्या सौं नारायन यह टेरि सुनायौ॥ ५४॥

"पुत्री ! अब मत करौ सोच सब कष्ट सिरायौ।
धन्य भाग ! हरिचंद भूप लौं पति जौ पायौ" ॥
रोहितास्व की देह - ओर पुनि देखि पुकार्‌यौ।
"उठौ भई बहु बेर ! कहा सोवन यह धार्‌यौ" ॥ ५५ ॥
एतौ कहतहि भयौ तुरत उठि कै सो ठाढ़ौ।
जैसे कोऊ उठत वेगि तजि सोवन गाढ़ौ॥
नारायन कौं लखि प्रनाम पुनि सादर कीन्ह्यौ।
मातु-पिता कैं बहुरि धाय चरनन सिर दीन्ह्यौ ॥ ५६ ॥
सत्य, धर्म, भैरव सिव कौसिक, सुरपति।
सब आये तेहि ठाम प्रशंसा करत जथामति॥
दंपति पुत्र - समेत सबहि सादर सिर नायौ।
तब मुनि बिस्वामित्र दृगनि भरि बारि सुनायौ ॥ ५७ ॥
'धन्य भूप हरिचंद ! लोक - उत्तर जस लीन्ह्यौ।
कौन सकत करि महाराज ! जैसे व्रत कीन्ह्यौ॥
केवल चारिहुँ जुग मैं तब जस अमर रहन हित।
हम यह सब छल कियौ छमहु सो अति उदार चित ॥ ५८ ॥
लीजै सत्य - त्यागि राज सब - आहि तिहारौ"।
कह्यौ धर्म तब "हाँ हमकौ साखी निरधारौ" ॥
बोलि उठ्यौ पुनि सत्य "हमैं दृढ़ करि तुम धार्‌यौ।
पृथिवी कहा 'त्रिलोक - राज सब अहै तिहार्‌यौ" ॥ ५९ ॥
गद्गद स्वर सौं सभरि बहुरि बोले त्रिपुरारी।
"पुत्र ! तोहि दैं कहा, लहैं हमहूँ सुख भारी ॥

निज करनी, हरि-कृपा आज तुम सब कुछ पायौ।
ब्रह्म-लोकहूँ पै अविचल अधिकार जमायौ ॥ ६० ॥
तदपि देत हम यह असीस-'कल कीर्ति तिहारी।
जब लौं सूरज-चंद रहैं तिहुँ पुर उँजियारी ॥
तव सुत रोहितास्व हूँ होहि धर्म थिर थापी।
प्रबल चक्रवर्ती चिरजीवी महा प्रतापी'' ॥ ६१ ॥
तब अति उँमगि असीस दीन्ह गौरी-सैब्या कौं।
''लछमी करहि निवास तिहारैं सदन सदा कौं ॥
पुत्र-बधू सौभाग्यवती सुभ होहि तिहारी।
तव कीरति अति बिमल सदा गावैं नर नारी ॥ ६२ ॥
यह असीस सुनि दंपति कौं दंपति सिर नायौ।
तैसहि भैरव-नाथ बाक मैं बाक मिलायौ ॥
''औ गावहि कै सुनहि जु कीरति बिमल तिहारी।
सो भैरवी जातना सौं नहि होहि दुखारी'' ॥ ६३ ॥
देव-राज तब लाज-सहित नीचैं करि नैननि।
कह्यौ भूप सौं हाथ जोरि अतिसय मृदु बैननि ॥
''महाराज! यह सकल दुष्टता हुती हमारी।
पै तुमकौं तौ सोउ भई अतिही उपकारी ॥ ६४ ॥
स्वर्ग कहै को, तुम अति स्रेष्ट ब्रह्म-पद पायौ।
अब सब छमहु दोष जो कछु हमसौं बनि आयौ ॥
लखहु तिहारैं हेत स्वयं संकर बरदानी।
उपाध्याय ह्वै बने बटुक नारद मुनि ज्ञानी ॥ ६५ ॥

बन्यौ धर्म आपुहि तव हित चंडाल अघोरी।
बन्यौ सत्य ताकौ अनुचर यह बात न थोरी॥
बहुरि कह्यो वैकुंठ - नाथ नृप - हाथ हाथ गहि।
"जो कछु इच्छा होहि और सो माँगहु बेगहि" ॥ ६६ ॥

यह सुनि गद्गद स्वरनि कह्यौ महिपाल जोरि कर।
"करुणासिंधु सुजान महा आनँद 'रत्नाकर'॥
"अब कोऊ इच्छा रहा होइ मन माहिं कहै तौ।
पै तौ हूँ यह होति सफल बर वाक्य भरत कौ॥ ६७॥

सज्जन कौं सुख होइ सदा, हरि - पद रति भावै।
छूटै सब उपधर्म सत्य निज भारत पावै॥
मत्सरता अरु फूट रहन इहिं ठाम न पावै।
कुकविन कौ बिसराइ सुकवि - बानी जग गावै" ॥ ६८ ॥

बोले हरि मुद मानि "अजहुँ स्वारथ नहि चीन्ह्यौ।
साधु! साधु! हरिचंद जगत-हित मैं चित दीन्ह्यौ॥
इहि जुग तव कुल राज्यो महिं ह्वै है ऐसो ही।
तुम्हें देत सकुचाहिं न बर माँगो कैसो ही" ॥६९॥

यौं कहि पत्नी - संग नृपहि नर - अंगनि धारे।
रोहितास्व कौं सौंपि राज्य सब धर्म सभारे॥
निज विमान बैठाय बेगि वैकुठ पधारे।
भई पुष्प - वर्षा सब जय जय सब्द उचारे॥ ७०॥

❀

मैथिलीशरण गुप्त

१०—मैथिलीशरण गुप्त

[जन्म संवत—१६४३]

आधुनिक हिन्दी कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्धि बाबू मैथिलीशरण गुप्त की है। उन्हीं की रचनायें सबसे अधिक लोक प्रिय हैं। उनके कारण उनका जन्म स्थान चिरगाँव (झाँसी) भी प्रसिद्ध हो गया है। आधुनिक युग की सभी भावनाएँ उनकी कृतियों में विद्यमान हैं। देश-भक्ति, आत्म सुधार, स्वावलम्बन, विश्व प्रेम, उच्चादर्श देशाभिमान और स्वधर्मानुराग यही सब भाव उनकी कविताओं में मूर्तिमान हैं।

अपने कविता-काल के प्रारम्भ से लेकर आज तक गुप्त जी सभी प्रकार के पाठकों में लोक-प्रिय बने हुए हैं। पहले पहल व्रज साहित्य के कल्पनो-माद के विरुद्ध जो एक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई, वह सबसे प्रथम मैथिलीशरण जी की रचनाओं में ही बिल्कुल स्पष्ट हुई। उनकी 'भारत भारती' में देश का यथार्थ चित्रण हुआ है। इसके बाद पौराणिक कहानियों को लेकर उन्होंने जो काव्य-कथाएँ लिखीं, उनमें सर्वत्र मानवी भावों की ही प्रधानता रखी। तुलसीदास जी ने संसार में भगवान का दर्शन कराया मनुष्य-जीवन में देवत्व का प्रदर्शन किया। गुप्त जी की यह विशेषता है कि उन्होंने देवों में मानवी भावों की प्रतिष्ठा की। मनुष्यों की समस्त दुर्बलताएँ और क्षमताएँ उनके देव तुल्य पात्रों में प्रकट हुई हैं। 'साकेत' की लोक प्रियता का सबसे बड़ा कारण यही है। उसमें उर्मिला की गूढ़ व्यथा, सीता का प्रेम, राम और लक्ष्मण की स्नेह-जन्य

दुर्बलता, ये सब ऐसी बातें हैं जो गुप्त जी के पात्रों को हमारे अत्यधिक निकट ला देती हैं। राम चरित मानस में सीता जी का जो अलौकिक प्रेम और रामचन्द्र जी का जो अचिन्त्य स्वरूप अंकित हुआ है—वह पाठकों के लिये अनधिगम्य है। राम और सीता उनके आराध्य देव हैं—उनसे उनके हृदय में आतङ्क, विस्मय और भक्ति का उद्रेक हो सकता है। किन्तु गुप्त जी के चरित्र चित्रण की यह विशेषता है कि इन्हीं पात्रों से पाठकों के हृदय में सहवेदना और सहानुभूति के भाव जाग्रत होते हैं।

जिस प्रकार अतीतकाल के चरित्र जीवन पर अक्षय प्रभाव डालते हैं, उसी प्रकार हम लोग अपने जीवन में यह भी अनुभव करते हैं कि हम जो कुछ देख रहे हैं—उसी में हमारा अन्त नहीं है, इसके अतिरिक्त भी हमारा एक जीवन है और उस जीवन का सम्बन्ध हमारे वर्तमान जीवन से है। इसी रहस्यमय जीवन को स्पष्ट करने के लिये हिन्दी में वस्तुवाद के विरुद्ध जो एक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई वह कवियों की रचनाओं में छायावाद के नाम से प्रकट हुई। लोग मानो यथार्थ जगत की सीमाबद्ध मानव लीला से विरक्त होकर किसी असीम या अनन्त जीवन की प्राप्ति के लिये व्यग्र हो उठे। यह व्यग्रता छायावाद की रचनाओं में प्रकट हुई। गुप्त जी की रचनाओं में भी हम उस भाव का पूर्वाभास पाते हैं, जो पीछे से छायावाद का नाम ग्रहण कर थोड़े ही दिनों में हिन्दी के वर्तमान कवियों में अत्यन्त लोक-प्रिय हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी की कविताओं में जहाँ एक ओर देश की उच्चतम आकांक्षा की ध्वनि है, वहाँ दूसरी ओर नवयुग की

सभी भावनाएँ भी स्थान पा चुकी हैं। गुप्त जी वर्त्तमान युग के एकमात्र प्रतिनिधि कवि हैं।

भाषा और शैली—

गुप्त जी की भाषा खड़ी बोली है। बहुत कम ही कवि हैं, जिन्होंने गुप्त जी के सदृश ब्रजभाषा के प्रभाव से मुक्त शुद्ध खड़ी बोली में रचना करने में सफलता पायी है। इनकी भाषा में शुद्ध वाक्य-विन्यास और पद लालित्य प्रचुर मात्रा में है। इनकी भाषा ओज, प्रसाद और माधुर्य से युक्त है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ—

१—भारत भारती	२—जयद्रथ-वध
३—यशोधरा	४—साकेत
५—द्वापर	६—मंगल घट
७—झंकार	८—चन्द्रहास (नाटक)

९—सिद्धराज

केशों की कथा

[१]

घन और भस्म-विमुक्त भानु कृशानुसम शोभित नये,
अज्ञात-वास समाप्त कर जब प्रकट पाण्डव हो गये।
तब कौरवों से शान्ति-पूर्वक और समुचित रीति से,
माँगा उन्होने राज्य अपना प्राप्त था जो नीति से।

[२]

हो किन्तु वश कुमति के निज प्रबलता की भ्रान्ति से,
देना न चाहा रण-बिना उसको उन्होने शान्ति से।
तब क्षमा-भूषण, नित्य निर्भय, धर्मराज महाबली,
कहने लगे श्रीकृष्ण से इस भाँति वर वचनावली।

[३]

दुर्योधनादिक कौरवों ने जो किये व्यवहार हैं,
सो विदित उनके आपको सम्पूर्ण पापाचार हैं।
अब सन्धि के सम्बन्ध में उत्तर उन्होंने जो दिया,
हे कमल-लोचन, आपने वह भी प्रकट सब सुन लिया।

[४]

कर्तव्य अब जो हो हमारा दीजिए सम्मति हमें,
रण के बिना अब नहीं कोई दीखती है गति हमें।

जब शान्त करना चाहते वे राज्य मुक्त बिना किये,
कैसे कहें फिर हैं न वे तैयार विग्रह के लिए?

[५]

जिनके सहायक आप हैं हम युद्ध से डरते नहीं,
क्षत्रिय समर में काल से भी भय कभी करते नहीं।
पर भरत-वंश-विनाश की चिन्ता हमें दुख दे रही,
बस बात बारम्बार मन में एक आती है यही।

[६]

हैं दुष्ट, पर कौरव हमारे बन्धु ही हैं सर्वदा,
अतएव दोषी भी क्षमा के पात्र वे सब हैं सदा।
यह सोचकर ही हम न उनका चाहते संहार थे,
पर देखते हैं दैव को स्वीकार ये न विचार थे।

[७]

जो ग्राम केवल पाँच ही देते हमें वे प्रेम से,
संतुष्ट थे हम राज्य सारा भोगते वे क्षेम से।
निज हाथ उनके रक्त से रँगना न हमको इष्ट था,
सम्बन्ध हमसे और उनसे सब प्रकार घनिष्ठ था।

[८]

सुनकर युधिष्ठिर के वचन भगवान यों कहने लगे—
मानों गरजते हुए नीरद भूमि में रहने लगे।

"हे कौरवों के विषय में जो आपने निज मत कहा,
स्वाभाविकी वह आपकी है सरलता दिखला रहा।

[९]

"औदार्य-पूर्वक आप उनको चाहते करना क्षमा,
आसन्न-मृत्यु परन्तु उनमें वैर-भाव रहा समा।
अतएव उनसे सन्धि की आशा समझनी व्यर्थ है,
दुर्बुद्धियों को बोध देने में न दैव समर्थ है।

[१०]

"उपदेश कोई यदपि उनके चित्त में न समायँगे,
तो भी उन्हें हम सन्धि करने के लिए समझायँगे।
होगा न उससे और कुछ तो बात क्या कम है यही,
निर्दोषता तो जान लेगी आपकी सारी मही।"

[११]

यों कह युधिष्टिर से वचन इच्छा समझ उनकी हिये,
प्रस्तुत हुए हरि हस्तिनापुर गमन करने के लिए।
इस सन्धि के प्रस्ताव से भीमादि व्यग्र हुए महा,
पर धर्मराज-विरुद्ध धार्मिक वे न कुछ बोले वहाँ।

[१२]

तब सहन करने से सदा मन की तथा तन की व्यथा,
जो क्षीण दीन निदाघ-निशि-सम हो रही थी सर्वथा।

सो याज्ञसेनी द्रौपदी अवलोक दृष्टि सतृष्ण से,
हिम मलिन-विधु सम वदन से बोली वचन श्रीकृष्ण से।

[१३]

"हे तत्त्वदर्शी जन जिन्हें सर्वज्ञ नित्य बखानते,
हे तात, यद्यपि तुम सभी के चित्त की हो जानते।
तो भी प्रकट कुछ कथन की जो धृष्टता मैं कर रही,
मुझपर विशेष कृपा तुम्हारी हेतु है इसका यही।

[१४]

"जिस हृदय की दुखाग्नि से जलती हुई थी निज हिये,
जीवित किसी विधि मैं रही शुभ समय की आशा किये।
हा हन्त! आज अजात रिपु ने दया रिपुओं पर दिखा,
कर दी ज्वलित घृत डालके ज्यों और भी उसकी शिखा।

[१५]

"सुनकर न सुनने योग्य हा! इस सन्धि के प्रस्ताव को,
है हो रहा यह चित्त मेरा प्राप्त जैसे भाव को।
वर्णन न कर सकती उसे मैं वज्रहृदया परवशा,
हरि तुम्हीं एक हताश जन की जान सकते हो दशा।

[१६]

"केवल दया ही शत्रुओं पर है न दिखलाई गई,
,हा! आज भावी सृष्टि को दुर्नीति सिखलाई गई।

चलते बड़े जन आप हैं संसार में जिस रीति से,
करते उन्हीं का अनुकरण दृष्टान्तयुत सब प्रीति से।

[१७]

"जो शत्रु से भी अधिक बहुविधि दुख हमें देते रहे,
वे क्रूर कौरव हा! हमीं से आज बन्धु गये कहे।
नीतिज्ञ गुरुओं ने भुला दी नीति यह कैसी सभी—
'अपना अहित जो चाहता हो, वह नहीं अपना कभी।'

[१८]

"जो ग्राम लेकर पाँच ही तुम सन्धि करने हो चले,
औदार्य्य और दयालुता ही हेतु हों इसके भले।
पर 'डर गये पाण्डव' सदा ही यह कहेंगे जो अहो!
निज हाथ लोगों के मुखों पर कौन रक्खेगा कहो?

[१९]

"क्या कर सकेंगे सहन पाण्डव हाय! इस अपमान को?
क्या सुन सकेंगे प्रकट वे निज घोर अपयश गान को?
होता सदा है सज्जनों को मान प्यारा प्राण से,
है यशोधनियों को अयश लगता कठोर कृपाण से।

[२०]

"देवेन्द्र के भी विभव को सतत लजाते जो रहे,
हा! पाँच ग्रामों के वही हम आज भिक्षुक हो रहे!

अब भी हमें जीवित कहे जो सो अवश्य अज्ञान है,
हैं जानते यह तो सभी 'दारिद्र मरण समान है'।

[२१]

"अथवा कथन कुछ व्यर्थ अब जब क्षमा उनको दी गई,
केवल क्षमा ही नहीं उनसे बन्धुता भी की गई।
सो अब भले ही सन्धि अपने बन्धुओं से कीजिए,
पर एक बार विचार फिर भी कृत्य उनके लीजिए।

[२२]

"क्या क्या न जाने नीच निर्दय कौरवों ने है किया,
था भोजनों में पाण्डवों को विष इन्होंने ही दिया।
सो सन्धि करने के समय इस विषम विष की बात को,
मुझपर कृपा करके उचित है सोच लेना तात को।

[२३]

"विदित जिसकी लपट से सुरलोक सन्तापित हुआ,
होकर ज्वलित सहसा गगन का छोर था जिसने छुआ।
उस प्रबल जतु गृह ने अनल की बात भी मन से कहीं,
हे तात, सन्धि-विचार करते तुम भुला देना नहीं।

[२४]

"मृग-चर्म धारे पाण्डवों को देख वन में डोलते,
तुमने कहे थे जो वचन पीयूष मानों घोलते।

जो क्रोध उस बेला तुम्हें था कौरवों के प्रति हुआ,
रखना स्मरण वह भी तथा जो जल दृगों से था चुआ।

[२५]

"था सब जिन्होंने हर लिया छल से जुए के खेल में,
प्रस्तुत हुए किस भाँति पाण्डव कौरवों से मेल में?
उस दिवस जो घटना घटी थी भूल क्या वे हैं गये,
अथवा विचार विभिन्न उनके हो गये अब हैं नये?"

[२६]

फिर दुष्ट दुःशासन हुआ था दुष्ट जिन को खींच के,
ले दाहिने कर में वही निज केश लोचन सींच के।
रखकर हृदय पर वाम कर शर-विद्ध हरिणी सम हुई,
बोली विकलतर द्रौपदी वाणी महा करुणामयी।

[२७]

"करुणा सदन, तुम कौरवों से सन्धि जब करने लगो,
चिन्ता व्यथा सब पाण्डवों की शान्तिकर, हरने लगो।
हे तात, तब इन मलिन मेरे मुक्त केशों की कथा,
है प्रार्थना, मत भूल जाना, याद रखना सर्वथा।"

[२८]

कहकर वचन यह दुःख से तब द्रौपदी रोने लगी,
नेत्राम्बुधारा पात से कृश अंग निज धोने लगी।

हो द्रवित करके श्रवण उसकी प्रार्थना करुणा-भरी,
देने लगे निज कर उठाकर सान्त्वना उसको हरी।

[२९]

"भद्रे, रुदन कर बन्द हा! हा! शोक को मन से हटा,
यह देख तेरी दुख-घटा जाता हृदय मेरा फटा।
विश्वास मेरे कथन का जो हो तुझे मनमें कभी,
सच जान तो दुख दूर होंगे शीघ्र ही तेरे सभी।

[३०]

जिस भाँति गद्गद् कण्ठ से तू रो रही है हाल में,
रोती फिरेंगी कौरवों की नारियाँ कुछ काल में।
लक्ष्मी-सहित रिपु-रहित पाण्डव शीघ्र ही हो जायँगे,
निज नीच कर्मों का उचित फल कुटिल कौरव पायँगे।"

नर हो न निराश करो मन को

१

नर हो न निराश करो मन को।
कुछ काम करो कुछ काम करो,
जग में रह के कुछ नाम करो।
यह जन्म हुआ किस अर्थ अहो,
समझो जिसमें यह व्यर्थ न हो।
कुछ तो उपयुक्त करो तन को,
नर हो न निराश करो मन को।

२

सँभलो कि सुयोग न जाय चला
कब व्यर्थ हुआ सदुपाय भला।
समझो जग को न निरा सपना
पथ आप प्रशस्त करो अपना।
अखिलेश्वर है अवलंबन को,
नर हो न निराश करो मन को।

३

जल तुल्य निरंतर शुद्ध रहो,
प्रबलानल क्यों अनिरुद्ध रहो।
पवनोपम सत्कृतिशील रहो,
अवनितलवद् धृतिशील रहो॥
कर लो नग सा शुचि जीवन को,
नर हो न निराश करो मन को॥

४

जब हैं तुम में सब तत्व यहाँ,
फिर जा सकता वह तत्व कहाँ।
तुम तत्व सुधा रस पान करो,
उठ के अमरत्व विधान करो।
दव रूप रहो भव कानन को,
नर हो न निराश करो मन को॥

५

निज गौरव का नित ज्ञान रहे,
 "हम भी कुछ हैं" यह ध्यान रहे।
सब जाय अभी पर, मान रहे,
 मरणोत्तर गुञ्जित गान रहे।
कुछ हो, न तजो निज साधन को,
 नर हो न निराश करो मन को॥

६

प्रभु ने तुमको कर दान किये,
 सब वांछित वस्तु विधान किये।
तुम प्राप्त करो उनको न अहो!
 फिर है किसका यह दोष कहो?
समझो न अलभ्य किसी धन को,
 नर हो, न निराश करो मन को॥

७

किस गौरव के तुम योग्य नहीं?
 कब कौन तुम्हें सुख भोग्य नहीं?
जन हो तुम भी जगदीश्वर के,
 सब हैं जिसके अपने घर के।
फिर दुर्लभ क्या उसके जन को?
 नर हो न निराश करो मन को।

८

कर के विधिवाद न खेद करो,
निज लक्ष्य निरंतर भेद करो।
बनता बस उद्यम ही विधि है,
मिलता जिससे सुख का निधि है।
समझो धिक् निष्क्रिय जीवन को,
नर हो न निराश करो मन को॥

रामनरेश त्रिपाठी

११—रामनरेश त्रिपाठी

[जन्म संवत्—१६४६]

त्रिपाठी जी कवि, समालोचक, टीकाकार, अनुवादक और सम्पादक सभी के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इनमें देश प्रेम है और समाज सुधार के भाव भी हैं। इनकी कविताओं में प्रकृति का सुन्दर वर्णन है, राष्ट्रीय भाव हैं और धर्मनिष्ठा भी। इनकी यह धर्मनिष्ठा आत्म कल्याण साधन में ही समाप्त नहीं हुई, किन्तु लोक सेवा में परिपूर्ण हुई है।

भाषा और शैली—

त्रिपाठी जी की भाषा संस्कृत शब्दों से युक्त है, पर मधुर ओजमय और प्राञ्जल है। इनके प्रकृति वर्णन में बड़ी मधुर शब्दावली का प्रयोग हुआ है। प्रसाद गुण इनकी रचनाओं में सर्वत्र विद्यमान है। सरसता और नवीनता भी इनकी रचनाओं में यथेष्ट है।

प्रसिद्ध ग्रंथ—

१—मिलन   २—पथिक

३—स्वप्न   ४—मानसी

५—कविता कौमुदी (सम्पादित)

स्वदेश प्रेम

अतुलनीय जिनके प्रताप का।
साक्षी है प्रत्यक्ष दिवाकर॥
घूम घूम कर देख चुका है।
जिसकी निर्मल कीर्ति निशाकर॥
देख चुके हैं जिनका वैभव।
ये नभ के अनंत तारा गण॥
अगणित बार सुन चुका है नभ।
जिनका विजय घोष रण गर्जन॥ १॥

शोभित है सर्वोच्च मुकुट से।
जिनके दिव्य देश का मस्तक॥
गूँज रही हैं सकल दिशाएँ।
जिनके जय गीतों से अब तक॥
जिनकी महिमा का अविरल।
साक्षी सत्य रूप हिम गिरिवर॥
उतरा करते थे विमान दल।
जिसके विस्तृत वक्षस्थल पर॥ २॥

सागर निज छाती पर जिनके।
अगणित अर्णवपोत उठाकर॥
पहुँचाया करता था प्रमुदित।
भूमंडल के सकल तटों पर॥

नदियाँ जिनकी यश-धारा-सी।
बहती हैं अब भी निशि-वासर॥
ढूँढो उनके चरण चिह्न भी।
पाओगे तुम इनके तट पर॥ ३॥

हे युवको! तुम उन्हीं पूर्वजों।
के वंशज उनके हो प्रतिनिधि॥
तुम्हीं मान रक्षक हो उनके।
कीर्ति तरंगिणियों के वारिधि॥

रवि, शशी, उडुगन गगन दिशाएँ।
हैं गिरि नदी, मेदिनी जब तक॥
निज पैतृक धन स्वतंत्रता को।
क्या तुम तज सकते हो तब तक॥ ४॥

विषुवत् रेखा के वासी जो।
जिता है नित हाँफ हाँफ कर॥
रखता है अनुराग अलौकिक।
वह भी अपनी मातृभूमि पर॥

ध्रुव वासी जो हिम में तम में।
जी लेता है काँप काँप कर॥
वह भी अपनी मातृभूमि पर।
कर लेता है प्राण निछावर॥ ५॥

तुम तो हे प्रिय बंधु ! स्वर्ग सी।
सुखद सकल विभवों की आकर॥
धरा शिरोमणि मातृभूमि में।
धन्य हुए हो जीवन पाकर॥
तुम जिसका जल अन्न ग्रहण कर।
बड़े हुए लेकर जिसका रज॥
तन रहते कैसे तज दोगे?
उसको हे वीरों के वंशज॥ ६॥

जब तक साथ एक भी दम हो।
हो अवशिष्ट एक भी धड़कन॥
रखो आत्म गौरव से ऊँची।
पलकें, ऊँचा सिर, ऊँचा मन॥
एक बूंद भी रक्त शेष हो।
जब तक तन में हे शत्रुंजय॥
दीन वचन मुख से न उचारो।
मानो नहीं मृत्यु का भी भय॥ ७॥

निर्भय स्वागत करो मृत्यु का।
मृत्यु एक है विश्राम स्थल॥
जीव यहाँ से फिर चलता है।
धारण कर नव जीवन सबल॥
मृत्यु एक सरिता है जिसमें।
श्रम से कातर जीव नहा कर॥

फिर नूतन धारण करता है।
काया रूपी वस्त्र बदा कर ॥ ८ ॥

सच्चा प्रेम वही है जिसकी।
वृत्ति आत्मबलि पर हो निर्भर ॥
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है।
करो प्रेम पर प्राण निछावर ॥

देश प्रेम वह पुण्य क्षेत्र है।
अमल असीम त्याग से विलसित ॥
आत्मा के विकास से जिसमें।
मनुष्यता होती है विकसित ॥ ९ ॥

लोक-सेवा

ईश्वर-भक्ति, लोक-सेवा है
एक अर्थ दो नाम।
वन में बस कैसे हो सकता
है मनुजोचित काम ?
पृथिवी पर सुख-शान्ति बढ़ाता
देकर निज श्रम-शक्ति।
मनुष्यता का अर्थ यही है
और यही हरि-भक्ति ॥ १ ॥

बाल सखा इन वन जीवों का,
प्रिये ! तजो अब मोह।

सहना ही होगा अब हमको
इनका विषम बिछोह।
चिरपरिचित वृक्षों से मिलकर
देख विहङ्ग कुरङ्ग।
तब आनन्दकुमार चल पड़ा
ले विजया को सङ्ग॥ २॥

धीरे धीरे धीरे दोनों
चले विपिन-पथ-बीच।
मानो उनका हृदय रहा था
कानन पीछे खींच।
पीछे देख आह भरते थे
दोनों बारम्बार।
दीर्घ श्वास तज किया उन्होंने
चिरपरिचित वन पार॥ ३॥

बीती निशा, उषा उठ आई
पहन सुनहला चीर।
प्रणयी युगल विमोहित पहुँचे
तरंगिणी के तीर।
तट तरुवर से बँधी तरी का
बंधन सत्वर खोल।
दोनों चढ़कर लगे चलाने
प्रमुदित मन जय बोल॥ ४॥

इस विध तरी युगल प्रणयी को
जा पहुँची मँझधार।
जहाँ गँभीर अथाह श्यामतल
थी जल-राशि अपार।
उसी समय हो गई प्रकृति अति
क्षुब्ध नितान्त अशान्त।
दिशा भयानक हुई, कँप उठा
व्योम - वारि - वन - प्रान्त ॥ ५ ॥

क्षण में उमड़-घुमड़ गर्जनकर
घिर आये घन घोर।
महा विषम विचित्र प्रभंजन
वृक्षों को झकझोर।
होने लगी वृष्टि रिमझिमकर
अविरत मूसलधार।
आन्दोलित लहरें तरणी पर
करने लगीं प्रहार ॥ ६ ॥

तरी लगी उलटने-पलटने
ग्रसित, विवश, निरुपाय।
'अब डूबे' 'तब डूबे' तरणी
अनाधार असहाय।
खड़े अर्ध-जल-मग्न तरी में
दोनों प्रणयी धीर।

करना है जल-गर्भ-वास अब
पहुँच न सकते तीर ॥ ७ ॥

देख प्रकृति का कोप भयानक
बोला प्रणयी वीर—
प्रिये ! हमें अब तजना होगा
यह क्षणभंगु शरीर।
देह त्यागने का है मुझको
प्रिये ! न तिलभर खेद।
जागृति और स्वप्न सा मरन
जीने मे है भेद ॥ ८ ॥

खेद यही है हुआ न पूरा
अपना मनोभिलाप।
इस तन से स्वदेश-सेवा की
रहा न अब तो आस।
आओ, एक बार प्राणेश्वरि !
लें हम भुजभर भेंट।
शय्या करें अतल जल में फिर
आशा सकल समेट ॥ ९ ॥

व स्वर्गीय शान्ति से भूषित
प्रेमी शोक विहीन।
जीवनमयी तरी के संग में
जल में हुये विलीन।

प्रकृति थिर हुई, पवन थम गया,
सब हट गये पयोद।
जाग्रत हुआ चराचर में फिर
सुख आमोद-प्रमोद ॥ १० ॥

अंशुराशि के शुभागमन की
वेला समझ समीप।
नभ में बुझा चुके थे सुर भी
निज-निज घर के दीप।
कलरव, सुमन विकास संग ले
निकली रवि की कोर।
क्षणभर पहले ही दो प्रेमी
कहाँ गए ? किस ओर ॥ ११ ॥

फिर पहले-सा सुगम हुआ
तरंगिणी का पाथ।
तरी कहाँ है ? सब प्रस्फुटित
कुसुम-कली के साथ।
कुमुद-कुमुदिनी मुँदे देखकर
प्रखर दिनेश-प्रकाश।
नहीं निकलने भी पाया था
विश्व-विमोहक वास ॥ १२ ॥

जयशंकर 'प्रसाद'

१२—जयशकर 'प्रसाद'

जन्म-संवत् १९४६ मृत्यु-संवत् १९९४

इनका जन्म स्थान काशी है। इन्होंने हिन्दी, संस्कृत, अँग्रेजी और फ़ारसी की शिक्षा घर पर ही प्राप्त की। पिता और अग्रज की मृत्यु हो जाने के कारण १७ वर्ष की अवस्था में ही इन पर गृह का सारा भार आ पड़ा। ऐसी परिस्थिति में भी इनका सारा जीवन साहित्य-सेवा में ही बीता।

'प्रसाद' जी की सृजन शक्ति भी अपूर्व थी। उन्होंने कविताएँ लिखीं, कहानियाँ लिखीं और नाटक तथा उपन्यास भी रचे। इन सब में उनकी अपूर्व सृजन शक्ति विद्यमान है। वे हिन्दी के एक मात्र ऐतिहासिक नाटककार कहे जा सकते हैं। उनके नाटकों में ऐतिहासिक वातावरण बड़ी कुशलता से निर्मित किया गया है। उनके पात्र इतिहास के नर कंकाल नहीं हैं, अतीत युग के सजीव चित्र हैं। उन्होंने अपनी कथाओं में समाज का यथार्थ चित्र अंकित करने का प्रयत्न नहीं किया। इसके विपरीत अपनी विशिष्ट भावना के अनुसार एक औपन्यासिक संसार की रचना कर उसमें भिन्न-भिन्न पात्रों के मानसिक जगत का अन्तर्द्वन्द्व दिखलाया है। उनका कोई भी पात्र ऐसा नहीं है जिसे हम अपना परिचित साथी समझ सकें। पाठकों के लिए वे सभी अपरिचित व्यक्ति के समान हैं। पर ऐसे पात्रों के प्रति भी पाठकों के हृदय में सहवेदना का भाव जाग्रत करने में 'प्रसाद' जी पूर्ण सफल हुए हैं और यही उनकी सबसे बड़ी

विशेषता है। कविता के क्षेत्र में 'प्रसाद' जी नवयुग के प्रवर्तक माने जाते हैं।

भाषा तथा शैली—

प्रसाद जी प्रतिभा सम्पन्न कलाकार थे। उनकी शैली उन्हीं की शैली है, उनके सभी ग्रन्थों में एक विशेष प्रकार की शैली निहित है, जिस पर 'प्रसाद' जी के व्यक्तित्व की पूरी पूरी छाप है। इनकी भाषा संस्कृत मिश्रित है, परन्तु उसमें एक विशेष ओज और आकर्षण है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ—

१—कामायिनी	२—झरना
३—आँसू	४—लहर
५—आकाशदीप (कहानी संग्रह)	६—इन्द्रजाल (कहानी संग्रह)
७—कंकाल (उपन्यास)	८—तितली (उपन्यास)
६—चंद्रगुप्त (नाटक)	१०—स्कंदगुप्त (नाटक)
११—राज्यश्री (नाटक)	१२—अजातशत्रु (नाटक)

चित्रकूट में श्रीराम

[१]

उदित कुमुदिनि - नाथ हुए प्राची में ऐसे।
सुधा - कलश रत्नाकर से उठता हो जैसे॥
धीरे - धीरे चढ़े नई आशा से मन में।
क्रीड़ा करने लगे स्वच्छ - स्वच्छंद गगन में॥

[२]

चित्रकूट भी चित्र - लिखा - सा दीख रहा था।
मंदाकिनी - तरंग उसी से खेल रहा था॥
स्फटिक - शिला - आसीन राम - वैदेही ऐसे।
निर्मल सर में नील कमल - नलिनी हों जैसे॥

[३]

निज प्रियतम के संग सुखी थी कानन में भी।
प्रेम भरा था वैदेही के आनन में भी॥
मृग - शावक के साथ मृगी भी देख रही थी।
सरल विलोकन जनक सुता से सीख रही थी॥

[४]

निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी।
सच है, हैं श्रीमान भोगते सुख वन में भी॥

चंद्रातप था, व्योम तारका - रत्न जड़े थे।
स्वच्छ दीप था सोम, प्रजा तरु - पुंज खड़े थे॥

[५]

शांत नदी का स्रोत बिछा था अति सुखकारी।
कमल कली का नृत्य हो रहा था मनहारी॥
बोल उठा जो हंस देखकर कमल कली को।
तुरन्त रोकना पड़ा गूँजकर चतुर अली को॥

[६]

हिली आम की डाल, चला ज्यों नवल हिंडोला।
'आह! कौन है' पंचम स्वर से कोकिल बोला॥
मलयानिल प्रहरी सा फिरता था उस वन में।
शांति शांत हो बैठी थी कामद - कानन में॥

[७]

राघव बोले देख जानकी के आनन को—
'स्वर्गंगा का कमल मिला कैसे कानन को?"
नील मधुप को देख, वहीं उस कंज - कली ने।
स्वयं आगमन किया'—कहा यह जनक-लली ने॥

(८]

बोले राघव—प्रिय! भयावह - से इस वन में।
शंका होती नहीं तुम्हारे कोमल मन में?'

कहा जानकी ने हँसकर—'उसको है क्या डर।
जिसके पास प्रवीण धनुर्धर ऐसा सहचर'॥

[९]

कहा राम ने—अहा! महल, मन्दिर मनभावन।
स्मरण न होते तुम्हें कहो क्या वे अति पावन?
रहते थे झंकारपूर्ण जो तव नूपुर से।
सुरभि-पूर्ण पुर होता था जिस अंतःपुर से॥

[१०]

जनकसुता ने कहा—'नाथ! यह क्या कहते हैं?
नारी के सुख सभी साथ पति के रहते हैं॥
कहो उसे प्रियप्राण! अभाव रहा फिर किसका?
विभव चरण का रेणु तुम्हारा ही है जिसका'॥

गोपालशरण सिंह

१३—गोपालशरण सिंह

गोपालशरण सिंह, रीवाँ-राज्य के जागीरदार हैं। बाल्य-काल से ही साहित्य की ओर उनकी जो अभिरुचि हुई, वह अभी तक वैसी ही बनी है। पहले उन्होंने व्रज-भाषा में कविताएँ लिखीं फिर खड़ी बोली में लिखने लगे। खड़ी बोली की कविताओं में व्रज-भाषा का माधुर्य्य और सरसता लाना उनकी अपनी विशेषता है। घनाक्षरी छन्द का उपयोग उन्होंने बड़ी कुशलता से किया है। उनके भाव हृदयग्राही हैं और भाषा भी हृदयग्राहिणी; उसमें जैसी सरसता है—वैसी ही सरलता भी। उनमें उक्ति-वैचित्र्य है और उदात्त कल्पना। इसी कारण उनकी कविता लोक-प्रिय हो गई है।

गोपालशरण जी की कविताओं में वर्तमान युग की तीन धाराओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है—उनकी पहली कविताओं में नीति और देश-भक्ति की प्रधानता है। उसके बाद उन्होंने जो कविताएँ लिखीं उनमें भावों की नवीनता के साथ उनका सौन्दर्य प्रेम प्रकट होता है और आज तो उनकी कविताओं में रहस्यवाद का स्पष्ट संकेत दिखाई देता है।

भाषा तथा शैली—

इन्होंने खड़ी बोली में कविता की है। इनकी शैली घनाक्षरी छद की है। इस वृत्त में इन्होंने व्रज का माधुर्य स्रोत खड़ी बोली में प्रवाहित कर दिया है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ—

१—माधवी
२—कादम्बिनी
३—मानवी
४—संचिता

गोपालशरण सिंह

कलकल रूप में है, वंशी-रव गूँज रहा,
	जाके सुनो कलित कलिंदजा के कूल में।
ग्राम-ग्राम धाम धाम में है घनश्याम यहाँ,
	किन्तु वे छिपे हैं मंजु मानस-दुकूल में ॥ ३ ॥

गूँज रही आज भी सभी के श्रवणों में यही,
	रुचिर रसाल ध्वनि नूपुरों के जाल की।
भूल सकता है कोई व्रज में कभी क्या भला,
	निपट निराली छटा चारु वनमाल की?
समता मराल ने न नेक कभी कर पाई,
	मञ्जु मन्द मन्द नंदनदन की चाल की।
रहती दृगों में छाई उर में समाई सदा,
	छवि मन-भाई बाल मदन गोपाल की ॥ ४ ॥

अब भी मुकुन्द रहते हैं व्रज भूमि ही में,
	देखते यहाँ के दृश्य दृग फेर फेर के।
लिये उरकुंज में हैं वृंदावन वासियों के,
	थकते वृथा ही लोग उन्हें हेर हेर के।
चित्त वृतियाँ हैं सब गोपियाँ उन्हीं की बनीं,

ब्रज-वर्णन

आते जो यहाँ हैं ब्रज-भूमि की छटा वे देख,
नेक न अघाते होते मोद-मद-माते हैं।
जिस ओर जाते उस ओर मन भाये दृश्य,
लोचन लुभाते और चित्त को चुराते हैं॥
पल भर को वे अपने को भूल जाते सदा,
सुखद अतीत-सुधा सिंधु में समाते हैं।
जान पड़ता है उन्हें आज भी कन्हैया यहाँ,
मैया-मैया टेरत हैं, गैया को चराते हैं॥ १॥

करते निवास छवि-धाम घन श्याम भृंग,
उर कलियों में सदा व्रज-नर-नारी की।
कण कण में हैं यहाँ व्याप्त दृग सुखकारी,
मंजु मनोहारी मूर्ति मंजुल मुरारी की।
किसको नहीं है सुध आती अनायास यहाँ,
गोवर्धन देख कर गोवर्धन धारी की।
न्यारी तीन लोकसे है प्यारी जन्म भूमि यही,
जनमन हारी वृन्दा-विपिन विहारी की॥ २॥

अंकित व्रजेश की छटा है सब ठौर यहाँ,
लता द्रुम-पल्लियों में और फूल फूल में।
भूमि ही यहाँ की सब काल बतला सी रही,
ग्वाल बाल संग वह लोटे इस धूल में॥

कलकल रूप में है, वंशी-रव गूँज रहा,
जाके सुनो कलित कलिंदजा के कूल में।
ग्राम-ग्राम धाम धाम में है घनश्याम यहाँ,
किन्तु वे छिपे हैं मंजु मानस-दुकूल में॥ ३॥

गूँज रही आज भी सभी के श्रवणों में यहीं,
रुचिर रसाल ध्वनि नूपुरों के जाल की।
भूल सकता है कोई व्रज में कभी क्या भला,
निपट निराली छटा चारु वनमाल की?
समता मराल ने न नेक कभी कर पाई,
मञ्जु मन्द मन्द नंदनदन की चाल की।
रहती दृगों में छाई उर में समाई सदा,
छवि मन-भाई बाल मदन गोपाल की॥ ४॥

अब भी मुकुन्द रहते हैं व्रज भूमि ही में,
देखते यहाँ के दृश्य दृग फेर फेर के।
लिये उरकुञ्ज में हैं वृंदावन वासियों के,
थकते वृथा ही लोग उन्हें हेर हेर के।
चित्त-वृत्तियाँ हैं सब गोपियाँ उन्हीं की बनीं,
रहतीं उन्हीं के आस-पास घेर घेर के।
आठों याम सब लोग लेते हैं उन्हीं का नाम,
मानों हैं बुलाते श्याम श्याम टेर के॥ ५॥

उमड़ रहा है प्रेम-पारावार मानस में,
व्रज वनिताएँ फँसे बैठी रहें मान में।

किस भाँति आज व्रजराज से करें वे लाज,
रहता सदैव है समाया वह ध्यान में।
मन में बसी है मूर्ति उसी मनमोहन की,
हिचकें भला वे कैसे रूप-रस पान में।
मृदु मुरली की तान प्राण में है गूँज रही,
कैसे न सुनेंगी उसे उँगली दे कान में ॥ ६ ॥

जिसने विपत्तियों से व्रज को बचाया सदा,
दिव्य बल-पौरुष दिखाया बालपन में।
मार क्रूर कंस को स्वदेश का छुड़ाया क्लेश,
सुयश प्रकाश छिटकाया त्रिभुवन में।
सबको सदैव दिखलाया शुचि विश्व-प्रेम,
गीता को बनाया उपजाया ज्ञान मन में।
दुःख को हटाया, सुख-बेलि को बढ़ाया वह,
श्याम मन भाया है समाया वृन्दावन में ॥ ७ ॥

वही मंजु मही वही कलित कलिंदजा है,
ग्राम और धाम भी विशेष छवि-धाम हैं।
वही वृन्दावन है निकुंज, द्रुम पुंज भी हैं,
ललित लताएँ लोल लोचनाभिराम हैं।
वही गिरिराज गोपजन का समाज वही,
वही सब साज बाज आज भी ललाम हैं।
व्रज की छटा विलोक आता मन में है यही,
अब भी यहीं ही शुभ नाम घनश्याम हैं ॥ ८ ॥

देते हैं दिखाई सब दृश्य अभिराम यहाँ,
सुखमा सभी को सुध श्याम की दिलाती है।
फूली-फूली सुरभित रुचिर द्रुमालियों से,
सुरभि उन्हीं की दिव्य देह की ही आती है।
सुयश उन्हीं का शुक-सारिका सुनाते सदा,
कूक कूक कोकिला उन्हीं का गुण गाती है।
हरी-भरी दृग-सुखदायी मन भाई मंजु,
यह व्रज-मेदिनी उन्हीं की कहलाती है ॥ ९ ॥
सुखद सजीली श्याम-श्यामला यहाँ की भूमि,
श्याम के ही रंग में रँगी है प्रेम भाव से।
रज भी पुनीत हुई उनके चरण छूके,
सीस पर चढ़ाते उसे भक्तजन चाव से।
पाप-पुंज-नाशी उर-कमल विकासी हुआ,
यमुना सलिल बस उनके प्रभाव से।
कर दिया पूरा उसे वर वृन्दावन ने ही,
जो थी कमी मेदिनी में स्वर्ग के अभाव से ॥ १० ॥

नंदलाल

[१]

जाना भी तुम्हें था तो भुलाना था हमें न कभी,
क्या नहीं तुम्हें था 'फिर लौटकर आना भी;
तुमने सभी से यहाँ प्रीति थी बढ़ाई ख़ूब,
क्या नहीं तुम्हें था फिर उसको निभाना भी ?

तुम हो निठुर, सदा हमको खिझाते रहे,
सीख गए अब तुम हमें कलपाना भी ;
तोड़ोगे कहो क्या निज नाता ब्रज-वासियों से,
छोड़ोगे भला क्या नंदलाल कहलाना भी ?

[२]

कैसे ब्रज वासी भूल जायँ वे तुम्हारे मंजु,
मोर पख लकुटी रुचिर वन-माल को ?
मंजुल मराल का जो मान हरती थी सदा,
कैसे भूल जायँ वे तुम्हारा उस चाल को ?
तुम्हीं बतलाओ, करें कौन वे उपाय हाय,
किस भाँति तोड़ें वे तुम्हारे प्रेम-जाल को ?
ब्रज को भले ही भूल जाओ ब्रज-चंद तुम,
कैसे ब्रज भूले निज प्यारे नंदलाल को ?

चाँदनी

थी खिली पलास द्रुमाली सी
संध्या सुहासिनी की लाली।
मिल गई प्रभाली थीं दोनों,
आने वाली, जाने वाली।
हो गईं दिशाएँ रंजित सी,
इस अरुण मनोज्ञ प्रभाली से ;
पर निकल पड़ी काली रजनी,
संध्या की सुन्दर लाली से।

दिन-मणि की जो किरणें दिन में,
थीं फैली जग के कण कण में ;
वे ही जाकर निशि के नभ में,
हँसती-सी थीं तारागण में।
इस निभृत निशा की गोदी में,
सो रहे सृष्टि के कण-कण थे ;
बस तारागण ही आपस में,
कर रहे मौन संभाषण थे।

खेलने लगा सुन्दर शशि शिशु,
मणि-जटित गगन के आँगन में ;
तारावलि उसकी प्रभा देख,
खिल गई मुदित होकर मन में।
उसने सारे जगती-तल पर,
निज कीर्ति-कौमुदी छिटकाई।
वह किरण-जाल के वाहन पर,
वह हंस-वाहिनी सी आई।
वसुधा से आकर लिपट गई,
वह बाल सखी सी मन-भाई।
मिल कर उससे पुलकित-सी हो,
वसुधा मनही मन मुसकाई।
अब प्रकृति नटी की रंग भूमि,
सज गई खूब है मन-भाई।

है शशि की किरणों ने उस पर,
चाँदनी - चाँदनी फैलाई।
क्या शुभ्र हासिनी शरद घटा,
अवनी पर आकर है छाई?
अथवा गिर कर नभ से कोई,
सुर बाला हुई धराशायी?
सोती अबलाओं के समीप,
वह वातायन से जाती है।
प्रिय शशि समान उनका सुन्दर,
मुख चूम-चूम सुख पाती है।
निर्जन विपिनों में घुस घुस कर,
किसकी तलाश वह करती है?
वह देश देश में, ग्राम ग्राम में,
किसके लिए विचरती है?
नभ से अवनी पर आने से,
मानो वह भी थक जाती है।
श्रम-स्वेद कणों से ओस बिंदु,
धरणी तल पर टपकाती है।
सागर सरिता की लहरों से,
हिल-मिल कर क्रीड़ा करती है।
वन उपवन और सरोवर में,
वह प्रभा पुंज सी भरती है।

शैलों के शिखरों पर बैठी,
वह मंद-मंद मुसकाती है।
मृदु पवन निकंपित द्रुमावली,
झुक-झुककर चँवर चलाती है।
जिसके समीप वह जाती है,
उसका स्वरूप धर लेती है।
है वह रूपिणी-बाल छवि सी,
छवि-छवि में छवि भर देती है।
लेटी सुमनों की शैया पर,
वह है वियोगिनी बाला सी।
वसुधा के वक्षस्थल पर है,
शुचि, श्वेत सुमन की माला सी।
प्रतिबिंबित चंचल जल में हो,
शशि प्रभा और भी खिलती है।
सागर की ऊँची लहरों पर,
चाँदनी चाँद से मिलती है।
पर्वत की चोटी पर चढ़ कर,
वह करती कौन इशारा है?
सदेश भेजती क्या कुछ वह,
शशि की किरणों के द्वारा है?
फूलों के मृदु उर में घुस कर,
निज जीवन भूला करती है।

हिलते कोमल किसलय दल पर,
वह झूला झूला करती है।
नक्षत्रों से ज्योतित नभ की,
वह है अति सुंदर छाया सी।
संसार अचेतन है जिसमें,
है परब्रह्म की माया-सी।

रामधारी सिंह 'दिनकर'

१३—रामधारी सिंह 'दिनकर'

'दिनकर' बिहार के सुप्रसिद्ध प्रतिभाशाली कवि हैं। प्रगतिशील नयी पीढ़ी के कवियों में आपका उत्कृष्ट स्थान है। राष्ट्र के अतीत के साथ अन्तर की पीड़ा का संयोग स्थापित करके, कविता में एक अपूर्व ओज तथा करुणा का संचार करने में आप सिद्धहस्त हैं। भारत के विगत वैभव का गान और भविष्य के स्वर्ण विहान का स्वप्न आपकी कविताओं के प्रिय विषय हैं।

भाषा तथा शैली—

आपकी भाषा खड़ी बोली है। आपकी भाषा में ओज है माधुर्य है। आप कई शैलियों में रचना की है। आप की कविता बड़ी ओज पूर्ण होती है और उसमें श्रेष्ठ काव्य-कला की सुन्दर अभिव्यञ्जना पायी जाती है।

प्रसिद्ध ग्रन्थ—

१—रेणुका' २—'हुँकार'

३—रसवन्ती

हिमालय

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

साकार दिव्य गौरव विराट !
पौरुष के पुञ्जीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त !
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान !
निस्सीम व्योम में तान रहे,
युग से किस महिमा का वितान ?
कैसी अखंड यह चिर समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा ?
किस जटिल समस्या का निदान ?

सुखसिन्धु, पञ्चनद, ब्रह्मपुत्र
गंगा यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्य-भूमि की ओर बही।
तेरी विगलित करुणा उदार।
जिसके द्वारों पर खड़े क्रांत
सीमापति! तूने की पुकार—
पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार।
उस पुण्य-भूमि पर आज तपी
रे! आन पड़ा संकट कराल,
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे
डँस रहे चतुर्दिक विविध व्याल!

मेरे नगपति! मेरे विशाल!

कितनी मणियाँ लुट गईं, मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष!
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश!
कितनी द्रुपदा के बाल खुले,
कितनी कलियों का अन्त हुआ:
कह हृदय खोल चित्तौर! यहाँ
कितने दिन ज्वाल बसन्त हुआ!
पूछो सिकताकण से हिमपति!

हिमालय

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

साकार दिव्य गौरव विराट !
पौरुप के पुञ्जीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल ?

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त !
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान !
निस्सीम व्योम में तान रहे,
युग से किस महिमा का वितान ?
कैसी अखंड यह चिर-समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा ?
किस जटिल समस्या का निदान ?
उलझन का कैसा विपम जाल ?
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

ओ मौन तपस्या लीन-यती !
पल भर तो कर नयनोन्मेप !
रे ! ज्वालाओं से दग्ध, विकल !
है तड़प रहा पद पर स्वदेश !

सुखसिन्धु, पञ्चनद, ब्रह्मपुत्र
गंगा यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्य-भूमि की ओर बही।
तेरी विगलित करुणा उदार।
जिसके द्वारों पर खड़े क्रांत
सीमापति! तूने की पुकार—
पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार।
उस पुण्य-भूमि पर आज तपी
रे! आन पड़ा संकट कराल,
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे
डँस रहे चतुर्दिक विविध व्याल!

मेरे नगपति! मेरे विशाल!

कितनी मणियाँ लुट गईं, मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष!
तू ध्यान मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश!
कितनी द्रुपदा के बाल खुले,
कितनी कलियों का अन्त हुआ;
कह हृदय खोल चित्तौर! यहाँ
कितने दिन ज्वाल बसन्त हुआ!
पूछो सिकताकण से हिमपति!

तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
वन-वन स्वतन्त्रता दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ ?
तू पूछ अवध से, राम कहाँ ?
वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?

ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,

तू पूछ, कहाँ इसने खोईं
अपनी अनन्त निधियाँ सारी ?
री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव—
के वे मंगल उपदेश कहाँ ?

तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ ?
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी शान कहाँ ?

ओ री उदास गंडकी ! बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ ?
तू तरुण देश से पूछ अरे !
गूँजा यह कैसा ध्वंस-राग ?

अम्बुधि अंतस्तल बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग?
प्राची के प्राङ्गणबीच देख
जल रहा स्वर्ण-युग अग्नि ज्वाल
तू सिंहनाद कर जाग यती!
मेरे नगपति! मेरे विशाल!

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर!
पर फिरा हमें गाण्डीव, गदा,
लौटा दे अर्जुन, भीम वीर!
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार;
सारे भारत में गूँज उठे
'हर हर बम' का फिर महोच्चार!
ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद,
तू शैल राट! हुङ्कार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद!
तू मौन त्याग, कर सिंहनाद
रे तपी! आज तप का न काल,
नवयुग शंख ध्वनि बजा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल!

मेरी जननी के हिम किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
जागो नगपति ! जागो विशाल !

आश्वासन

रो मत, श्याम घटा उमड़ी, उमड़े, रोना है पाप यहाँ।
जंजीरें मत गढ़, अश्रु होगा अपना अभिशाप यहाँ॥
सेतु यहाँ कच्चे धागे का, सँभल-सँभल चलना होगा।
इसी घाटी की चाल यही, साँचे में खुद ढलना होगा॥
उनका नाम रहा जौहरवालों में जो हँस आप जले।
हाँ, सिर पर है वही, हिमालय पर चढ़ जो चुपचाप गले॥
प्रह्लादों को जला सके जो, जग में ऐसा ताप नहीं।
अम्बरीष के लिये जहाँ दुर्वासा का अभिशाप नहीं॥
जो कलियों पर पले कुलिश की उनके लिये कहानी है।
नीलकण्ठ को सदा, सिन्धु दोनों का मीठा पानी है॥
बनकर शिखा चढ़े लंका पर उनके हित रोना कैसा?
दीवानों के लिये कहो, जग का जादू-टोना कैसा?
जो अशेष जीवन देता है उसे मरण-सन्ताप नहीं।
जलकर ज्वाला हुआ उसे लगता ज्वाला का ताप नहीं॥
अल्हड़ वही, ठेलकर धाराओं को जो प्रतिकूल चले।
तूफानों से लड़े सदा, झोंके झोंके पर फूल चले॥
यों तो अंचल पकड़ धार का सिन्धु सभी पा जाते हैं।
स्वर्ग मिलेगा उसे खोजता जो गंगा का मूल चले॥

ज्वाला में हँसनेवाले का छिटका पुण्य-प्रताप यहाँ।
रो मत, श्याम घटा उमड़ी, उमड़े, रोना है पाप यहाँ॥

सिपाही

वनिता की ममता न हुई, सुत का न मुझे कुछ छोह हुआ;
ख्याति, सुयश, सम्मान, विभव का, त्योंही कभी न मोह हुआ।
जीवन की क्या चहल-पहल है, इसे न मैंने पहिचाना;
सेनापति के एक इशारे पर मिटना केवल जाना।
हँसि की तो क्या बात, गलो की ठिकरी मुझे भुलाती है;
जीते जी लड़ मरूँ, मरे पर याद किसे फिर आती है।
इतिहासों में अमर रहूँ, है ऐसी मृत्यु नहीं मेरी;
विश्व छोड़ जब चला, भुलाते लगती फिर किसको देरी!
जग भूले, पर मुझे एक बस सेवा धर्म निभाना है।
जिसकी है यह देह उसीमें इसे मिला मिट जाना है।
विजय-विटप को विकच देख जिस दिन तुम हृदय जुड़ाओगे,
फूलों में शोणित की लाली कभी समझ क्या पाओगे!
वह लाली हर प्रात क्षितिज पर आकर तुम्हें जगायेगी,
सायंकाल नमन कर माँ को तिमिर बीच खो जायेगी।
देव करेंगे विनय, किन्तु क्या स्वर्ग बीच रुक पाऊँगा?
किसी रात चुपके उल्का बन कूद भूमि पर आऊँगा।
तुम न जान पाओगे, पर मैं रोज खिलूँगा इधर-उधर,
कभी फूल की पंखुड़ियाँ बन, कभी एक पत्ती बनकर।
अपनी राह चली जावेगी वीरों की सेना रन में,

रह जाऊंगा गौन वृन्त पर, सोच न जाने क्या मन में ?
तप्त वेग धमनी का बनकर कभी संग मैं हो लूंगा;
कभी चरण तल की मिट्टी में "जय जय" छिपकर बोलूंगा।
अगले युग की अनी कपिध्वज जिस दिन प्रलय मचायेगी,
मैं गरजूंगा ध्वजा-शृंग पर, वह पहचान न पायेगी।
"न्योछावर मैं एक फूल"-पर जग की ऐसी रीति कहाँ ?
एक पंक्ति मेरी सुधि में भी, सस्ते इतने गीत कहाँ ?
कविते ! देखो विजन विपिन में वन्य कुसुम का मुरझाना ;
व्यर्थ न होगा इस समाधि पर दो आँसू कण बरसाना।

१५—श्यामनारायण पाण्डेय

[जन्म सं० १६६७]

आपका जन्म स्थान आजमगढ़ जिले के डुमराँव नामक गाँव है। आपके पिता प० रामाज्ञा पाण्डेय साहित्य शास्त्री हैं। पुत्र को भी आरम्भ से ही संस्कृत की शिक्षा मिली। इस समय आप माधव संस्कृत विद्यालय काशी में प्रधानाध्यापक के पद पर हैं।

आप वीर रस के अनन्य पुजारी हैं। आपकी रचनाओं में 'हल्दी घाटी' सबसे सुन्दर और महत्व पूर्ण है, इस पर आपको देव पुरस्कार भी मिल चुका है।

भाषा तथा शैली—

आप खड़ी बोली के कवि हैं। आपकी भाषा वीर रस प्रधान और परिमार्जित होती है। आपने विभिन्न शैलियों में रचना की है।

प्रसिद्ध ग्रंथ—

१—हल्दी घाटी	२—कुमार सम्भव का हिन्दी अनुवाद
३—रिमझिम	४—त्रेता के दो वीर
५—आँसू के कण	६—माधव

हल्दीघाटी का युद्ध

निर्बल बकरों से बाघ लड़े,
भिड़ गये सिंह मृग छौनों से।
घोड़े गिर पड़े गिरे हाथी,
पैदल बिछ गये बिछौनों से॥

हाथी से हाथी जूझ पड़े,
भिड़ गये सवार सवारों से।
घोड़ों पर घोड़े टूट पड़े,
तलवार लड़ी तलवारों से॥

हय रुण्ड गिरे गजमुंड गिरे,
कट कट अवनी पर शुंड गिरे।
लड़ते लड़ते अरि-झुंड गिरे,
भू पर हय-विकल वितुंड गिरे॥

क्षण महा प्रलय की बिजली सी,
तलवार हाथ की तड़प तड़प।
हय-गज-रथ-पैदल भगा भगा,
लेती थी वैरी वीर हड़प॥

होती थी भीषण मार-काट,
अतिशय रण से छाया था भय।

था हार जीत का पता नहीं,
क्षण इधर विजय क्षण उधर विजय ॥

कोई व्याकुल भर आह रहा,
कोई था विकल कराह रहा।
लोहू से लथपथ लोथों पर,
कोई चिल्ला अल्लाह रहा ॥

धड़ कहीं पड़ा, सिर कहीं पड़ा,
कुछ भी उनकी पहचान नहीं।
शोणित का ऐसा वेग बढ़ा,
मुरदे बह गये निशान नहीं ॥

मेवाड़ केसरी देख रहा,
केवल रण का न तमाशा था।
वह दौड़ दौड़ करता था रण,
वह मान-रक्त का प्यासा था ॥

रण बीच चौकड़ी भर भर कर,
चेतक बन गया निराला था।
राणा प्रताप के घोड़े से,
पड़ गया हवा को पाला था ॥

गिरता न कभी चेतक तन पर,
राणा प्रताप का कोड़ा था।
वह दौड़ रहा अरि-मस्तक पर,
या आसमान पर घोड़ा था ॥

जो तनिक हवा से बाग हिली,
लेकर सवार उड़ जाता था।
राणा की पुतली फिरी नहीं,
तब तक चेतक मुड़ जाता था॥

कौशल दिखलाया चालों में,
उड़ गया भयानक भालों में।
निर्भीक गया वह ढालों में,
सरपट दौड़ा करवालों में॥

है यहीं रहा, अब यहाँ नहीं,
वह वहीं रहा, है वहाँ नहीं।
थी जगह न कोई जहाँ नहीं,
किस अरि-मस्तक पर कहाँ नहीं॥

बढ़ते नद-सा वह लहर गया,
वह गया गया फिर ठहर गया।
विकराल वज्र-मय बादल-सा,
अरि की सेना पर घहर गया॥

भाला गिर गया, गिरा निषंग,
हय टापों से खन गया अंग।
वैरी-समाज रह गया दंग,
घोड़े का ऐसा देख रंग॥

चढ़ चेतक पर तलवार उठा,
रखता था भूतल-पानी को।

राणा प्रताप सिर काट काट।
करता था सफल जवानी को॥
कल कल बहती थी रण गंगा,
अरि-दल को डूब नहाने को।
तलवार वीर की नाव बनी,
चटपट उस पार लगाने को॥
बैरी दल को ललकार गिरी,
वह नागिन-सी फुफकार गिरी।
था शोर मौत से बचो बचो,
तलवार गिरी, तलवार गिरी॥
पैदल से हय-दल गज-दल में,
छप छप करती वह निकल गई।
क्षण कहाँ गई कुछ पता न फिर।
देखो चमचम वह निकल गई,
क्षण इधर गई, क्षण उधर गई,
क्षण चढ़ी बाढ़ सी उतर गई।
था प्रलय, चमकती जिधर गई,
क्षण शोर हो गया किधर गई॥
क्या अजब विषैली नागिन थी,
जिसके डसने में लहर नहीं।
उतरी तन से मिट गये वीर,
फैला शरीर में जहर नहीं॥

शत शत बिजली की आग लिये,
वह प्रलय मेघ सा घहर उठा ॥

तन कर भाला भी बोल उठा,
राणा मुझ को विश्राम न दे।
बैरी का मुझ से हृदय गोभ,
तू मुझे तनिक आराम न दे ॥

खाकर अरि मस्तक जीने दे,
बैरी उर माला सीने दे।
मुझको शोणित की प्यास लगी,
बढ़ने दे, शोणित पीने दे ॥

रचक राणा ने देर न की,
घोड़ा बढ़ आया हाथी पर।
बैरी दल का सिर काट-काट,
राणा चढ़ आया हाथी पर ॥

वह महा प्रतापी घोड़ा उड़,
जंगी हाथी को हबक उठा।
भीषण विप्लव का दृश्य देख,
भय से अकबर दल दबक उठा ॥

क्षण भर छल बल कर लड़ा अड़ा,
दो पैरों पर हो गया खड़ा।
फिर अगले दोनों पैरों को,
हाथी मस्तक पर दिया गड़ा ॥

यह देख मान ने भाला से,
करने को, की प्रण चाह समर।
इस तरह थाम कर झटक दिया,
हाथी की भी झुक गई कमर॥

राणा के भीषण झटके से,
हाथी का मस्तक फूट गया।
अवर कलंक उस कायर का,
भाला भी दब कर टूट गया॥

राणा वैरी से बोल उठा—
"देखा न समर भाला से कर।
लड़ना तुझको है अगर अभी,
तो फिर लड़ ले भाला लेकर"॥

"हाँ, हाँ, लड़ना है" कह कर जब,
वैरी ने उठा लिया भाला।
प्रण भौंह चढ़ा कर देख लिया,
काँपे जो हाथ गिरा भाला॥

राणा ने हँस कर कहा मान,
अब बस कर दे हो गया युद्ध।
वैरी पर वार न करने से,
मेरा भाला हो रहा क्रुद्ध॥

अपने शरीर की रक्षा कर,
भग जा भग जा आ

यह कह कर भाला उठा लिया,
भीषणतम हाहाकार मचा॥
क्षण देर न की तन कर मारा,
अरि कहने लगा न भाला है।
यह गेहुवन करइत काला है,
यह महाकाल मतवाला है॥

यह चली धधकती ज्वाला है,
शत शत भुजग की हाला है।
यह निकल रही भाला की भा,
या प्रलय-वह्नि की माला है॥

छिप गया मान हौदे तल में,
टकरा कर हौदा टूट गया।
भाला की हलकी हवा लगी,
पिलवान गिरा तन छूट गया॥

अब विना महावत के हाथी,
चिग्घाड़ भगा राणा भय से।
संयोग रहा बच गया मान,
खूनी भाला, राणा हय से॥

सागर तरग की तरह इधर,
वैरी राणा पर टूट पड़े।
तलवार, गिरी शत एक साथ,
शत बरछे उन पर छूट पड़े॥

राणा के चारों ओर मुगल,
हो कर करने आघात लगे।
खा खा कर अरि तलवार चोट,
क्षण क्षण होने भूपात लगे॥

दानव समाज में अरुण पड़ा,
जल जंतु बीच हो अरुण पड़ा।
इस तरह भभकता राणा था,
मानों सर्पों में गरुड़ पड़ा॥

हय-रुण्ड कतर गज-रुण्ड पाछ।
अरि व्यूह-गले पर फिरती थी।
तलवार वीर की तड़प-तड़प;
क्षण-क्षण बिजली सी गिरती थी॥

करवाल उठा कर राणा ने,
वैरी का मस्तक काट लिया।
ताण्डव करते झड़ते लड़ते,
भाले ने लोहू चाट लिया॥

राणा - कर ने सिर काट - काट,
दे दिये कपाल कपाली को।
शोणित की मदिरा पीला-पीला,
कर दिया तुष्ट रण - काली को॥

पर दिन भर लड़ने से तन से,
चल रहा पसीना था तरतर।

अविरल शोणित की धारा थी,
राणा-क्षत से बहती झरझर ॥
घोड़ा भी उसका शिथिल बना,
था उसको चैन न घावों से।
वह अधिक अधिक लड़ता यद्यपि,
दुर्लभ था चलना पावों से ॥
तब तक झाला ने देख लिया,
राणा प्रताप है सकट में।
बोला न बाल बाँका होगा,
जब तक हैं प्राण बचे घट में ॥
अपनी तलवार दुधारी ले,
भूखे नाहर-सा टूट पड़ा।
कलकल मच गया, अचानकदल,
आश्विन के घन सा फूट पड़ा ॥
राणा की जय राणा की जय,
वह आगे बढ़ता चला गया।
राणा प्रताप की जय करता,
राणा तक चढ़ता चला गया ॥
रख लिया छत्र अपने सिर पर,
राणा प्रताप-मस्तक से ले।
ले स्वर्ण-पताका जूझ पड़ा,
रण-भीम कला अंतक से ले ॥

झाला को राणा जान मुगल,
फिर टूट पड़े वे झाला पर।
मिट गया वीर जैसा मिटता,
परवाना दीपक-ज्वाला पर॥

झाला ने राणा रक्षा की,
रख दिया देश के पानी को।
छोड़ा राणा के साथ साथ,
अपनी भी अमर कहानी को॥

टिप्पणी

पृष्ठ ५—(१) तमचुर—मुर्गा। रौर—शोर। खरिकन—गायों के रहने की जगह, गोशाला। (२) अंतरगत—हृदय में, मन में।

पृष्ठ ६—(५) मल्हावै—चित्त बहलाती है।

पृष्ठ ७—(६) दधिदनियाँ—दही भात। मनियाँ—मनता। (७) भ्वै—भूमि। (८) जंत्रधुनि—बाजे का शब्द।

पृष्ठ ८—(१०) रेंनुतन मंडित—धूलि से शोभित शरीर।

पृष्ठ ९—(११) सबारे—सुबह। आरि—हठ।

पृष्ठ—(१०) रिगाई—दौड़ा कर परेशान करना। चबाई—इधर उधर लगाने वाला। धूत—धूर्त। गोधन की सौं—गायों की कसम (१५) ख्याल परे—खेल करने की इच्छा से।

पृष्ठ ११—(१६) निधि—भंडार, धन दौलत। (१७) पानी—आँसू। सुमेर—सुमेरु पर्वत। बासनी—बरतन।

पृष्ठ १२—(१८)—त्रासैं—भय दिखावैं। नए—झुकते, दबते। भेस ठए—वेश बनाया है। जए—उत्पन्न। नंद जए—नंद के पुत्र। (१९)—सारंग—हरिण। निनारे—बिना। (२०) नैन मग जोइ हारै—आँखें राह देखते थक गई।

पृष्ठ १३—(२१) धरति—समझती। चिकुर—बाल। भुवि—पृथ्वी। (२२) पलुटावति—दबवाती है।

पृष्ठ १५—(२७) सुता—जमुना। सुरभी—गाय। (२८) खर—गधा। मरकट—बंदर। पाहन—पत्थर। रीतो—खाली। निषंग—तरकस।

पृष्ठ १६—(२९) अंकमाल—गले लगा, भेंट। अर्धांगी—स्त्री।

धनुष भंग

पृष्ठ २१—भवचापू—शिवधनुष। ठवनि—चाल। मृगराज—सिंह।

वचन नखत ''प्रकासी—बोलती बंद हो गई।

पृष्ठ २२—मंजु—सुंदर। कुंजर—हाथी। दापा—दर्प, घमंड। बालमराल—हंस का बच्चा।

पृष्ठ २३—कुंभज—एक ऋषि जिन्होंने समुद्र सोख लिया था। तम—अंधकार। खर्व—तुच्छ, छोटा। सायक—बाण।

पृष्ठ २४—गननायक—गणेश। कुलिस—वज्र। मृदुगात—कोमल शरीर। हरुअ—हलका।

पृष्ठ २५—परिताप—पछितावा, दुख। लव निमेष—एक क्षण। सरोज—कमल। चितु राचा—मन लगा है। व्याल—सर्प।

पृष्ठ २६—हरकोदंड—शिव धनुष। कमठ—कछुआ। अहि—शेषनाग। कोला—शूकर। भृगुपति—परशुराम। बोहित—जहाज। कनहारु—खेने वाला।

पृष्ठ २७—लाघव—सरलता। रव—शब्द। रबिबाजि—सूर्य के घोड़े। कलमले—डगमगाने लगे।

पृष्ठ २८—कौशिक—विश्वामित्र। राकेश—चन्द्रमा।

पृष्ठ २९—श्रीहत—निस्तेज, उदास।

पृष्ठ ३०—गवनी—चली। चित्र अवरेखी—चित्र में खींची हुई। जलज सनाला—डंडी युक्त कमल।

पृष्ठ ३१—व्योम—आकाश। गाजे—प्रसन्न हुए। नाग—सर्प। वधूटी—स्त्रियाँ। नाक—स्वर्ग।

शरद्-वर्णन

पृष्ठ ३२—बिगत—बितने पर। कास—काँसा, एक घास। अगस्त—एक तारा, जिसके उदय से वर्षा ऋतु का अंत समझा जाता।

पृष्ठ ३३—सारदी—शरद् ऋतु की। मधुकर—भौंरा। निकर—समूह।

पृष्ठ ३४—संकुल—भरा।

पद

सिरानी—बीत गई। मधुकर—भौंरा।

रहनि—चाल, ढग। गहौंको—पकड़ूगा, चलूँगा। परिहरि—छोड़ कर।

पृष्ठ ३५—नाह स्वामि, पति। ब्रज बनितन्ह—गोपियों।

परिहरि—छोड़कर। स्येन—बाज पक्षी। छत—चोट। आनन—मुँह, चोंच।

कल—सुन्दर। केकि—मयूर। अलकैं—बाल। कुटिल—टेढ़े, घुघराले। नलिन—कमल।

पृष्ठ ३६—जलकन—आँसू। अपनपौवार—अपने को निछावर कर दो। तुपारु—पाला। जातक—बच्चा।

पृष्ठ ३७—ह्वैहौं न हँसाइके—नाव खो कर हँसी का पात्र न बनूँगा।

पृष्ठ ३८—बात बीज—बात ही जड़ है। पावस—वर्षा ऋतु।

रहीम-रसना

पृष्ठ ४२—(१) अच्युत—विष्णु भगवान्। इन्दवभाल—शिव। (४) उरग—साँप। (१८) बारे—जलाने पर, छोटेपन में। बढ़े—बुझाने पर, बड़ा होने पर। (२१) दादुर—मेढक। (२९) व्याल—सर्प (३६) सेस—बचा हुआ, शेष नाग।

बिहारी-विहार

पृष्ठ ४९—निसान—नगाड़ा।

पृष्ठ ५०—कनक—धतूरा। कनक—सोना। मयक—चन्द्रमा।

पृष्ठ ५१—सरत—निकलता। ताप—धूप। निदाघ—ग्रीष्म

ऋतु। वृषभानुजा—बैल की बहन, राधा। हलधर—हल धारण करने वाला, बल्देव। मतीर—तरबूज। वृषादित—वृष राशि पर सूर्य जब रहता है, तब गर्मी बढ जाती है।

पृष्ठ ५३—मयूख किरन। करिया—मल्लाह। बारन—हाथी। मोषु—मोच।

शिवाजी स्तवन

पृष्ठ ५६—(१) बिजना—पखा। द्विरदमुख—गणेशजी। (३) जभ—इस नाम का दैत्य। वाडव—बड़वाग्नि। सुअभ्र—समुद्र।

पृष्ठ ५७—वारिवाह—बादल। दावा—वन की आग। वितु ड—हाथी।

(४) नियरे—पास। सियरे—भय भीत। बलकन—क्रुद्ध। (५) चकत्ता—चगताई के वंश, औरंगजेब।

पृष्ठ ५८—(६) मुहीम—सहायक फौज

पृष्ठ ६०—(१०) भीडि़—मसल। देवल—मदिर।

पृष्ठ ६१—गैवरन—हाथियों। (१३) जमाति—समूह।

छत्रसाल पराक्रम

(१४) गयदन—हाथियों।

पृष्ठ ६२—करवाल -तलवार।

सुदामाचरित

पृष्ठ ६५—सिद्धि करौ—जाओ। मतो—राय। वैस—वैश्य।

पृष्ठ ६६—जक—बकबक, हठ। लदा लदाना—बहुत कुछ देना। लोचन कोर—कनखियो।

पृष्ठ—६७—चक्कवे—चक्रवर्ती राजा।

पृष्ठ ६८—अगत्रई—पहले ही से।

पृष्ठ—६९—कनावड़ो—कृतज्ञ, उपकृत।

पृष्ठ ७०—छरिया—छड़ीबरदार, द्वारपाल।

पृष्ठ ७३—चबाउ—चरचा। औंको—उचट गया।

पृष्ठ—७५—पिछान—पहिचान। चामीकर—सोना।

पृष्ठ ७७—अंबर—वस्त्र।

अन्योक्तियाँ

पृष्ठ ७९—रसाल—आम। धात्री—पृथ्वी। परिमल—सुगंध। प्रभंजन—वायु। सोम—चन्द्रमा।

पृष्ठ ८०—पयोद—बादल। बलाहक—बादल। रंभा—केला। जरा—बुढ़ापा।

पृष्ठ ८१—जंबुक—सियार। तरी—नाव। जरजरी—जर्जर, पुराना झांझर।

प्रबोधिनी

पृष्ठ ८५—उत्पल—कमल। पड़ुर—पंडुक पक्षी। तुंबरु—वीणा।

पृष्ठ ८६—अनदेखे—बे देखे।

भक्ति भाव

पृष्ठ ८८—स्रौननि—कानों। बतरानि—बात चीत। दुरित दरो- दुख दूर करो।

प्रेम फुलवारी

पृष्ठ ८९—पांच औ सत—टाल मटोल।

वेणुगीत

पृष्ठ ९०—विहंगम—पक्षी।

सत्य-प्रतिष्ठा

पृष्ठ—९६—विमोचैं—छोड़ें, बहावें । रंच सेस—थोड़ी सी बाकी। महिषी—रानी। अगेजना—सहना।

पृष्ठ ९७—निरधारयौ —निश्चय किया । गुनावन— सोच विचार। स्रुति – कान।

पृष्ठ १००—पिछान्यो—पहिचाना।

पृष्ठ—१०१—द्वैक—दो एक। उमाह्यौ—उठा।

पृष्ठ—१०६ हुति—थी।

केशों की कथा

पृष्ठ १११—(१) भस्म विमुक्त—निर्मल, भानुकृशानु—सूर्य और अग्नि। (२) भ्राति—धोखे, भ्रम।

पृष्ठ ११३—(८) नीरद—मेघ, बादल।

पृष्ठ ११४—(९) आसन्न मृत्यु—मौत सिर पर है । (१२) निदाघ-निशि-सम—गर्मी की रात्रि की तरह।

पृष्ठ ११५—(१५) वज्र हृदय—कठोर हृदय।

पृष्ठ १ ७—(२३) जतु गृह—लाह का घर।

पृष्ठ ११८—(२८) नेत्राम्बु धारा-पात—आँसुओं के बहाने। कृश—दुबल।

नर हो न निराश करो मन को

पृष्ठ ११९—(१) अर्थ—लिये।

पृष्ठ १२०—(२) प्रशस्त—विस्तृत । (३) प्रबलानल—तीव्र आग । अनिरुद्ध—बे रोक ।

पृष्ठ १२२ (८) विधिवाद—भाग्यवादी—निष्क्रिय—अकर्मण्य ।

स्वदेश-प्रेम

पृष्ठ १२६—(१) दिवाकर—सूर्य । निशाकर—चन्द्रमा । घोष—आवाज । (३) अविरल—लगातार । अर्णव पोत—समुद्री जहाज ।

पृष्ठ १२८—(७) अवशिष्ट—बाकी । (८) संबल- खर्च, मार्ग व्यय ।

लोक-सेवा

पृष्ठ—१२९—(३) विपिन-पथ—वन मार्ग (४) प्रणयी—प्रेमी । चीर—वस्त्र । तरंगिणी—नदी। तरी—नाव। सत्वर—शीघ्र ।

पृष्ठ १३०—(८) जल गर्भ—जल में । क्षण-भंगु—शीघ्र नष्ट होने वाला । (९) अतल—अथाह ।

पृष्ठ १३३—(११) अंशुराशि—सूर्य ।

चित्रकूट में श्रीराम

पृष्ठ १३७—(१) प्राची—पूर्व । रत्नाकर—समुद्र ।

पृष्ठ—१३८—(६) मलयानिल—मलय पवन । प्रहरी—पहरा देने वाला ।

व्रज-वर्णन

पृष्ठ १४३—(३) कलिंदजा—यमुना ।

पृष्ठ १४४—(८) लोचनाभिराम—नेत्र सुखदायी ।

पृष्ठ १४५—द्रुमाली—वृक्ष समूह । सारिका—मैना । मेदिनी—भूमि ।

पृष्ठ १४६—(२) म जु—सुदर। नन्दनद—श्रीकृष्ण।

चाँदनी

प्रभाली—कांति, शोभा। मनोज्ञ—सुन्दर।

पृष्ठ १४७—निभृत—एकान्त पूर्ण। मौन सभाण—इशारे म बातचीत। हँस वाहिनी—सरस्वती।

पृष्ठ १४८—वातायन—झरोखा।

पृष्ठ १५४ नगपति—पर्वतों के स्वामी। वितान—चँदोवे। नयनोन्मेष—आँख खोलना। अमिय—अमृत।

पृष्ठ १५५—क्रांत—आक्रमण क लिए। कराल—भयंकर वीरान—उजाड़। शिकताकण—बालु क कण।

पृष्ठ—१५६—स्वतन्त्रता दीप लिये वन वन फिरने वाला महाराणा प्रताप की ओर सकेत है।

पृष्ठ १४६—(२) मंजु—सुंदर। व्रजचंद—श्रीकृष्ण।

चाँदनी

प्रभाली—कांति, शोभा। मनोज्ञ—सुन्दर।

पृष्ठ १४७—निभृत—एकांत पूर्ण। मौन संभाषण—इशारे बातचीत। हँस-वाहिनी—सरस्वती।

पृष्ठ १४८—वातायन—झरोखा।

पृष्ठ १५४—नगपति—पर्वतों के स्वामी। वितान—चँदोवा, नयनोन्मेष—आँख खोलना। अमिय—अमृत।

पृष्ठ १५५—क्रांत—आक्रमण के लिए। कराल—भयंकर बीरान—उजाड़। शिकताकण—बालु के कण।

पृष्ठ—१५६—स्वतन्त्रता दीप लिये वन वन फिरने वाला महाराणा प्रताप की ओर संकेत है।

पृष्ठ १५७—महोच्चार—बुलन्द आवाज।

निनाद—घोष, घोर गर्जन।

पृष्ठ १५८—अभि शाप—श्राप। कुलिश—वज्र।